श्री भागवत-दर्शन—

भागवती कथा

(सप्तदश खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनत सुमनासि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—•••—

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

तीय सस्करण १०००] भाद्रपद, सवत् २०१६ वि० [मूल्य-१)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

शोक-शान्ति

(श्रीब्रह्मचारीजी का एक मनोरञ्जक और तत्वज्ञान-पूर्ण पत्र)

[पञ्चम संस्करण छपकर तैयार है]

इस पुस्तक के पीछे एक करुण इतिहास है। आन्ध्र के गुन्टूर प्रान्त का परम भावुक युवक श्रीब्रह्मचारीजी का परम भक्त था, अपने पिता का इकलौता अत्यन्त ही प्यारा दुलारा पुत्र था। वह त्रिवेणी सङ्गम पर अकस्मात् स्नान करते समय डूबकर मर गया। उसके संस्मरणों को श्रीब्रह्मचारीजी ने बडी ही करुण भाषा में लिखा है पढते पढते आँखें स्वत बहने लगती हैं। फिर एक साल के पश्चात् उसके पिता को बडा ही तत्वज्ञान पूर्ण ५० । ६० पृष्ठों का पत्र लिखा था। उस लिखे पत्र की हिन्दी तैलगू और अँगरेजी में बहुत सी प्रतिलिपियाँ हुई, उसे पढकर बहुत से सतप्त प्राणियों ने शान्ति लाभ की। इसमें मृत्यु क्या है, इसको बडे ही सुन्दर ढॅग से मनोरञ्जक कथाएँ कहकर वर्णन किया गया है, लेखक ने अपने निजी जीवन के दृष्टान्त देकर पुस्तक को अत्यन्त उपादेय बना दिया है। अक्षर अक्षरमें विचारक लेखककी अनुभूति भरी हुई है। उसे हृदय खोलकर रख दिया है। प्रत्येक घरमें इस पुस्तक का रहना आवश्यक है। ६४ पृष्ठ की सुन्दर पुस्तक का मूल्य ।=) ।

पता—सङ्कीर्तन-भवन, झूसी (प्रयाग)

विषय-सूची

—०—

गुरुत्यक्त देवों की असुरों द्वारा पराजय

(३८३)

तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम् ।
देवान्प्रत्ययुधन् चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

गुरु गृह गमने इन्द्र बृहस्पति तहाँ न पाये ।
अन्तर्हित गुरु भये देव अतिशय घबराये ॥
सुर गुर त्यागे असुर प्रीत हियमहँ अति छाई ।
स्वर्ग विजय के हेतु, सुरनि पै करी चढाई ॥
शुक्राचार्य सहाय तें, गुरुप्रिय सुररिपु बढि गये ।
गुरुद्रोही सुर संघ पै, अस्त्र शस्त्र लै चढि गये ॥

संसारमें कोई भी घटना ऐसी नहीं है, जो सुखकर न हो। सभी घटनाओं से किसी न किसी को किसी प्रकारका सुख अवश्य मिलता है । क्योंकि सुखके बिना कोई जीवित नहीं रह सकता । किसी पुरुष का इकलौता पुत्र मर गया है, वह

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब असुरों ने यह बात सुनी कि बृहस्पतिजी ने देवताओं को त्याग दिया है, तो उन मदोन्मत्त और आततायी असुरों ने शुक्राचार्य की सम्मति से देवताओं के ऊपर लड़ाई के निमित्त चढ़ाई कर दी।"

दिन भर उदास बना रहता है, हँसता बोलता नहीं, आँसू बहाता रहता है। कोई उससे इस स्थिति को छोड़ने को कहे, तो उसे बुरा लगता है दुःख होता है, वह बार बार कहता है, मुझे इसी प्रकार पड़ा रहने दो मुझे चुपचाप पड़े रहने में बड़ी शान्ति मिलती है। रो लेने से मेरा चित्त हलका हो जाता है। अर्थात् उस समय उसे उसी अवस्था में रहने से आनन्द मिलता है। एक आदमी अपने शत्रु को पराजित करता है। तो उसकी पराजय मे उसे सुख होता है। पराजित पुरुष को दुःख होता है किन्तु उस दुःख में भी उसे आशा के कारण सुख होता है, कि सम्भव है, फिर हम इसे पराजित कर सकें। पराजय में भी सुख है और जय मे भी सुख है, केवल पात्र का भेद है कोई वस्तु किसी ने सुखकर मानली है, किसीने दुःखकर ज्ञानी के लिये दोनों समान हैं, उसके लिये सुख दुःख दोना बराबर हैं। अभिमान से हमने सुख दुःख की कल्पना करली है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र को अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अपने को धिक्कारा इसी बीच मे भगवान् बृहस्पति अपने घर से निकलकर योगबल से अन्तर्धान हो गये। इन्द्र ने स्वयं बहुत ढूँढा देवताओं से ढुँढवाया, किन्तु जब स्वयं गुरु ही प्रकट न होना चाहें, तो शिष्य अपने पुरुषार्थ से उन्हें कभी भी खोज नहीं सकता। उन्हें ढूँढ लेना साधारण काम नहीं है। अब इन्द्र को एक चिन्ता हुई। अब तक तो हम गुरुदेव की छत्रछाया मे रहने से शत्रुओं से अपने को सुरक्षित समझते थे। अब हमारे सिरों से गुरुदेव ने अपना वरदहस्त खींच लिया, अब हम गुरुकृपा से हीन हो गये। जो कृपा से रहित हैं। वह शत्रुओं के प्रहार से कभी बच ही नहीं सकता। अतः अब हमें अपनी रक्षा का उपाय सोचना चाहिये।

इस प्रकार देवताओं से परामर्श करते हुए इन्द्र अत्यन्त चिन्तित दिखाई देते थे। अनेक उपाय सोचने पर भी वे अपनी बुद्धि मे कुछ निश्चय न कर सके, क्योंकि उनका चित्त अत्यन्त अशान्त हो रहा था।

असुरों के गुप्तचर तो सदा देवताओं के छिद्रों को देखत ही रहते थे। वे बडो सावधानीसे इस बात की खोज करते रहते थे, कि देवताओं मे किधर से निर्बलता है, कैसे हम इन पर प्रहार करके विजय प्राप्त कर सक्ते हैं। चरों ने जब जाकर दैत्यों की सभा मे ये सब बातें विस्तार के साथ कहीं और बताया, कि देवताओं ने बृहस्पतिजी का घोर अपमान किया है। गुरु क पधारने पर इन्द्र अपने सिहासन पर बैठे ही रहे, उन्होंने उठकर अभ्युत्थान तो पृथक् रहा वाणीमात्र से भी उनका सत्कार नहीं किया। असुर तो ऐसे व्यवहार के करने की बात तो पृथक् रही मनसे भी गुरु के प्रति ऐसा व्यवहार करने की कल्पना नहीं कर सक्ते। तब तो असुरों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा वे दौडे दौडे अपने गुरु श्री शुक्राचार्य की शरण में गये और दूर से ही दण्डवत करक उनके चारों ओर बैठ गये।

शुक्राचार्यजी ने उन सबको प्रसन्नता और उत्सुकता के सहित अपने चारों ओर बैठा देखकर उनसे पूछा—"क्यों भाई, तुम लोग आज इतने उत्सुक क्यों हो? तुम लोग मुझसे क्या कहना चाहते हो? सकोच करने का काम नहीं, तुम्हे जो कहना हो निर्भय होकर कहो।

अपने गुरुदेव को अनुकूल देखकर असुरों ने कहना आरम्भ किया—"गुरुदेव! हमने सुना है देवताओं क गुरु बृहस्पतिजी ने देवताओं का परित्याग कर दिया।'

आज्ञा दीजिये, हम स्वर्ग पर चढाई करे अपने निर्बल शत्रुओं को हराकर स्वर्ग पर अपना अधिकार जमालें।"

यह सुनकर शुक्राचार्य ने कहा—"देखो, भैया! राजनीति मे शत्रु का दुर्बलता राजा के लिये एक अत्यन्त ही प्रसन्नता की बात होती है। पडौसी राजा को अपने समीपवर्ती शत्रु के छिद्रों को सदा देखते रहना चाहिये, जहाँ छिद्र दीखे तत्काल उसी क आधार पर चढाई करके शत्रु को परास्त कर देना चाहिये। तुम लोगों का विचार अति उत्तम है, तुम लोग शीघ्र ही देवताओं पर चढाई कर दो। अब देवताओं मे कुछ सत्व नहीं रहा, अब वे तुम्हारा सामना करने का साहस नहीं कर सकते। अब यदि तुम चढाई कर दोगे, तो तुम्हारी विजय निश्चय ही है, इसमे सन्देह करने की कोई बात हा नहीं।

अपने गुरुदेव की आज्ञा पाकर असुरों ने रणदुदुभी बजाई। समर का बाजा सुनकर सभी असुर अस्त्र शस्त्रों स सुसज्जित हो कर आनन्द म उछलते कूदते, किलकारियाँ मारते हुए एकत्रित हो गये सेनापति ने सेना को एक व्यवस्था में किया। बस, फिर क्या था, असुर तो आततायी होत हा हैं, वे तो युद्ध क लिय उधार खाय बैठे रहते हैं। उन मदोन्मत्तोंके लिय युद्ध से बढकर तो दूसरी वस्तु ही नहीं। अपने अपने वाहनों पर चढ चढ़कर वे स्वर्ग की ओर चल दिये।

स्वर्ग मे पहुँच कर असुरों ने अमरावती को घेर लिया। इन्द्र भी अपना सेना को लेकर असुरो का सामना करने आये, किन्तु उनके मनमे उत्साह नहीं था। गुरु कृत अपमानके कारण वे दुखित चिंतित तथा उत्साहहीन हो रहे थे। विजय का मन्त्र है उत्साह हीन पुरुष की कभी भी विजय नहीं हो सकती

असुरों ने अत्यन्त ही उत्साह में भरकर देवताओं के ऊपर तीखे तीखे बाणों की वर्षा की। असुरों के बाणों से देवताओं के ललाट मुख, ग्रीवा, बाहु, उदर, जघा आदि समस्त अग प्रत्यङ्ग छिन्न भिन्न हो गये। वे असुरों के प्रहारों को न सह सकने के कारण युद्ध से भाग खड़े हुए। भागते हुए देवताओं का असुरों ने पीछा नहीं किया। उन्होंने सोचा—"जो कायरों की भाँति पीठ दिखाकर युद्ध से भाग खड़े हुए हैं, ऐसे भयभीतों का पीछा करना दुर्बलता है। कायरता है। अत असुरों ने देवताओं को भागने दिया। वे विजय का डंका बजाकर अमरावती में घुस गये और इन्द्रासन पर अधिकार जमा लिया। जिस स्वर्ग पर कल तक देवताओं का राज्य था, आज उसी पर असुरों का राज्य हो गया। जिस ऐश्वर्य का कल तक इन्द्र उपभोग करता था उसी का आज असुर करने लगे। अप्सरायें अब उनके सामने नाचने लगीं। गन्धर्व गण उनके गुण का गान करने लगे। यह लक्ष्मी तो चचला है, चपला है, आज इसके समीप है, क्षणभर में दूसरे के गले में जयमाला पहिना देती है। इसे जो अपनी समझते हैं वे ठगे जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवता स्वर्ग छोड़कर भाग गये और अब स्वर्ग का ऐश्वर्य असुरों के अधीन हो गया।

छप्पय

निरुत्साह ह्वै देव समर महँ सम्मुख आये।
किंतु न कछु बल चल्यो तनिक लरिकें घबराये॥
मद तें ह्वै उन्मत्त असुर देवनि कूँ डाटें।
हाथ, पैर, सिर अङ्ग कठिन बाननि तें काटें॥
जब असुरनि की मारतें अति व्याकुल सुरगन भये।
भागे रनकूँ छाडि सुर, कमलासन के ढिंग गये॥

ब्रह्माजी का पराजित देवों को उपदेश

(३८४)

अहो वत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत्।
ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥
तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः।
प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां चयत्सुराः ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २१, २२ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें सबरी बात कहें विधि भलो न कीन्हों।
मूरखता अति करी नहीं गुरु आदर दीन्हों॥
जाई तें तुम बली अबल असुरनि तें हारे।
हैं घरवार विहीन फिरो सब मारे मारे॥
सुखी कृपा गुरुतें दुखी, जिहि पर गुरु प्रतिकूल हैं।
होहिं अमङ्गल तासु वस, जाव गुरु-अनुकूल हैं॥

अपनेसे कोई जानमें अनजान में अपराध बन जाय तो तत्क्षण बड़ोंके समीप जाकर ज्यों का त्यों उसे निवेदन कर देना चाहिये। पढ लेना पृथक् बात है और अनुभूति दूसरी वस्तु है। वृद्ध

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं, जब पराजित देवता ब्रह्माजी के समीप गये तो उनसे ब्रह्माजी कहने लगे—'देवगण! अरे, भैया! यह तो बड़े दु:खकी बात है। ऐश्वर्यके मद में अंधे होकर जो तुमने उन ब्रह्मनिष्ठ,

पुरुष सभी विषयों का अनुभव रखते हैं। किस समय कैसा कार्य करने से कैसा परिणाम होगा, इसका अनुभव वृद्धों को होता है इसीलिये कहा गया है कि वह सभा सभा ही नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। केवल बालपक जाने मात्र से ही कोई वृद्ध नहीं होता। अवस्था के परिपक्व होने के साथ ही जिनकी बुद्धि भी परिपक्व हो गई हो। ऐसे पुरुष जो उपाय बतायगे उससे सदा कल्याण ही होगा। अत सभी को विशेष कर युवकों को वृद्धसेवी होना चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! देवता एश्वर्यहीन हो गये तो उन्हें एक सद्बुद्धि सूझी। वे समझते थे हमारे अभिमान के ही कारण हमारा पराभव हुआ है। अब लोक पितामह ब्रह्मा जी को छोड़कर और कोई हमारा आश्रय नहीं। भले हैं, बुरे हैं, पापी हैं, अपराधी हैं, उन्हीं के हैं। उनकी सेवा मे पहुँचकर सब निवेदन कर देना चाहिये। यह सोचकर वे अत्यन्त ही लज्जित होकर इन्द्र को आगे करके ब्रह्माजी के समीप पहुँचे। लोकपिता मह को प्रणाम करके वे सिर झुकाये अत्यन्त उदास मनसे उनके समीप खड़े हो गये। देवताओं को उदास देखकर ब्रह्मा जी बड़े स्नेह के साथ बोले—"देवताओ ! तुम लोग इतने उदास क्यों हो, तुम सबके मुख म्लान क्यों हो रहे हैं ?" ब्रह्मा जी की बात सुनकर अत्यत लज्जा के साथ देवेन्द्र ने कहा—"प्रभो ! क्या बात बतावें हमसे एक बड़ा भारी अपराध हो गया। ऐश्वर्य के मद में

ब्राह्मण बृहस्पतिजी का अभिनन्दन नहीं किया, यह तो बहुत ही बुरा किया। यही कारण है कि तुम इतने समृद्धिशाली होकर भी अपने शक्ति हीन शत्रुओं से पराजित हो गये। जैसा तुमने किया वैसा उसका फल पाया, यह उसी अन्याय का परिणाम है।"

भरकर हमने गुरु की अवज्ञा की, उनका सम्मान नहीं किया हमारी अविनय से असन्तुष्ट होकर गुरुदेव हमे परित्याग करके चले गये। उनके जाते ही असुरों ने हम पर चढ़ाई की और हमें परास्त कर दिया स्वर्ग पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया।

सब बात सुनकर ब्रह्माजीने दु.खके साथ कहा—"देवताओ ! तुम तो सत्वावतार कहे जाते हो। तुम्हारा स्वभाव तो सत्वगुणी होता है। यह तुमने रज और तम मे भरकर कैसा पाप कर डाला। छि छि. बड़े दु ख की बात है। तुम लोग ऐश्वर्य के मद में अधे हो गये थे, तो आपस में कटते मरते। तुम लोग तो सीमा का उल्लघन कर गये। जितेन्द्रिय ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ सर्वशास्त्र पारगत ब्राह्मण का जो साधारण ब्राह्मण भी नहीं तुम सबके गुरु हैं साक्षात् भगवत् स्वरूप हैं उनका तुम लोगों ने अपमान किया। यह तो बड़े दु ख की बात है।

इन्द्र ने लज्जा के साथ कहा—"अब, महाराज ! हो गया सो होगया। अब हमारा जो कर्तव्य हो, वह बतावें हमे योग्य सम्मति दें। कोई प्रायश्चित्त बतावें उसे हम करें।"

ब्रह्माजी ने रोष के स्वर में कहा—"प्रायश्चित्त तो साधारण पाप तथा महापापों का होता है, इस पाप का क्या प्रायश्चित्त। भगवान् सब पापों को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु गुरु सन्तद्रोही को कभी क्षमा नहीं कर सकते। समस्त समृद्धियाँ गुरु कृपा से ही प्राप्त होती हैं और गुरुदेव की अकृपा होने से ही समस्त ऐश्वर्य इहलोक तथा परलोक का सुख नष्ट हो जाता है। और पुरुष उभय भ्रष्ट बनकर नष्ट हो जाता है। अरे, तुम दूर कहाँ जाते हो। प्रत्यक्ष ही देख लो। तुम सब समर्थ थे, बली थे, ऐश्वर्यशाली थे, सतोगुणी देवता थे, गुरु का अपमान करते ही

तुम्हारा समस्त सद्गुण नष्ट हो गया। समृद्धिशाली होने पर भी आज कान्तिहीन श्रीहीन होकर इधर उधर विना घर द्वार के पराजित हुए मारे मारे फिर रहे हो इसके विपरीत असुरों को देखो हिंसक हैं, मदा क्रूरकर्मों में ही रत रहते हैं। रजोगुण तमोगुण की ही इनमें प्रधानता है। भगवान् के द्वारा पराजित होकर पाताल में निवास करते हैं। उन पर युद्धोचित अधिक सामिग्री भी नहीं शक्तिहीन होने पर भी उन्होंने केवल अपने गुरु शुक्राचार्य की कृपा से तुम सबको मार भगाया। अब आनन्द से स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं। वे सबके सब शुक्राचार्य के अधीन हैं उनके शासन में रहते हैं। सब प्रकार वे उनकी सेवा करते हैं। यह सब तुम्हारे अन्याय का फल है, गुरुदेव के अपमान करने का परिणाम है।

इन्द्र ने कहा—"महाराज! वे सब तो बड़े क्रूर हैं, स्वर्ग पर ऐसे क्रूर पुरुषों का आधिपत्य न होना चाहिये।

ब्रह्माजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"हमने माना वे सब क्रूर हैं। सभी जानते हैं, वे दुष्ट प्रकृति के हैं, किन्तु एक बढा हुआ सद्गुण सभी छोटे दुर्गुण को दबा लेता है। गुरुभक्ति गुरु सुश्रूषा ऐसा महान् गुण है, कि उसके सम्मुख उनके सब दुर्गुण दब गये हैं। अब वे इन्द्रासन के अधिकारी बन गये हैं। यद्यपि वे पहिले तुम्हारे द्वारा परास्त होकर अवनत हो गये थे, किन्तु आज वे शुक्राचार्य की भक्ति पूर्वक आराधना करके उन्नत हो गये हैं। तुम कहते हो, वे स्वर्ग के अधिकारी नहीं, मैं तो कहता हूँ, यदि उनकी ऐसी ही बुद्धि बनी रही, तो यह बात असम्भव नहीं कि वे मेरे लोक पर भी आकर अधिकार न जमा लें। मुझे भी कहीं ब्रह्मासन से न हटा दें।"

देवताओं ने दुखित होकर कहा—"प्रभो ! हम अपने अपराध को तो स्वीकार कर ही रहे हैं। अब ऐसा उपाय बताइये, कि हमारा मंगल हो हमारे शत्रुओं का अमंगल हो हमारा गया हुआ राज्य मिल जाय।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँसे और बोले—"अरे भैया, इन्द्र ! तू कैसी बातें कर रहा है। देख जो गौ गुरु और भगवान् के भक्त हैं, उनका कभी अमंगल हो ही नहीं सकता। जिन पर गुरुदेव की कृपा है, उनके लिये स्वर्गीय सुख तुच्छ हैं। स्वर्ग की बात तो पृथक् रही, वे मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। भगवान् यदि अप्रसन्न हो जायँ, तो पुरुष श्री गुरुदेव के चरणों में जाकर अपने दुःख को रख सकता है, गुरु की कृपा से पुनः प्रभु प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि गुरु ही अप्रसन्न हो जायँ, तो फिर किसकी शरण में जायँ। गुरुद्रोही से तो भगवान् भी डरते हैं। गुरु चाहें अपने अपराधों को क्षमा कर भी दें। भगवान् अपने अपराध करने वाले की ओर ध्यान भी नहीं देते। किन्तु गुरु के अपराधी को वे हठपूर्वक दण्ड देते हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! भगवान् अपने अपराध से बढ़कर गुरु के अपराध को क्यों समझते हैं।

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! कृतघ्नता सबसे बड़ा अपराध है, जिस गुरु ने हमें संसार से तारने वाला अमोघ मन्त्र दिया है, जिन्होंने हमारे भवरोग के विनाश का बीड़ा उठा लिया है। उनके साथ द्रोह करके जीव किस गतिको प्राप्त होगा। भगवान् का तो जीव पग पग पर अपमान करता है। भगवान् समझते हैं बच्चा है। वे कभी २ तो अपने अपराध करने वाले पर अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक चोर था। रात्रि में कहीं चोरी करने गया, घूमता फिरता एक शिव मन्दिर में गया। सयोग की बात कि उस दिन प्रदोष था। शिवजी पर बहुत से फूल बतासे, लड्डू तथा फल आदि चढे हुए थे। बहुत से दीपक जल रहे थे। पूजा आदि करके सब भक्त चले गये थे। सून सान स्थान था। चोर ने पहिले तो जाकर मेवा तथा फलों पर हाथ मारा, लड्डुओं को उड़ाया और फिर चारों ओर देखने लगा। चोरी के लिये और तो कोई वस्तु उसे दिखाई दी नहीं। भगवान् के पिंडी की ऊपर लोहे की साकेल मे एक बडा भारी घटा लटक रहा था। चोर ने सोचा—"यदि यह घण्टा किसी प्रकार मिल जाय, तो यही १० ६० रुपये में बिक सकता है।"

घण्टा ऊँचा था, वहाँ तक हाथ पहुँचता नहीं था। शिवजी की पिंडी बडी और विशाल थी। उसने सोचा—"इस पिंडी पर चढ़कर इसे उतार लें।"

यह सोचकर वह दोनों पैर शिवलिंग पर रखकर खड़ा हो गया और उस घंटे को उतारने लगा। कितना भारी अपराध उसने शिवजी का किया। किन्तु भगवान् आशुतोष तो औघड़-दानी ही ठहरे, पता नहीं किस काम से किस पर वे कब ढुर जायँ। उस चोर के कार्य से वे अप्रसन्न होने के स्थान में प्रसन्न हो गये और उससे वरदान माँगने के लिये कहा।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाराज! चोर ने कौन सा कार्य किया था। शिवजी उसकी किस सेवा से प्रसन्न हुए। उसने उल्टा उनके श्री अग पर पैर रखकर घोर अपराध किया था।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज ! भगवान जीवों के अपने प्रति किये हुये अपराधों की ओर ध्यान ही नहीं देते। यदि वे इन अपराधों पर ही अप्रसन्न हुआ करते, तो समस्त नास्तिकों की जिह्वा काट काट कर उन्हें गूँगा बना देते। भगवान् के प्रति जीव कितना भारी अपराध कर रहा है, जिन भगवान् ने इतना सुन्दर शरीर दिया, उनका चिन्तन न करके अहर्निशि विषयों का चिन्तन करता रहता है। उस चोर ने फल, बतासे, लड्डू छाँटने के लिए शिवजी के ऊपर के बेल पत्र हटाये थे। एक तो यह सेवा हो गई। दूसरे वह अपने सम्पूर्ण शरीर का बोझ रखकर शिवजी पर चढ गया। शिवजीने सोचा—"देखो, यह कैसा भक्त है, वह लखपती सेठ आया था, एक पैसा चढा गया। वह मोटी माई कितने धन की स्वामिनी है, किन्तु एक घिसी हुई पाई और सड़ी हुई सुपारी आज प्रदोष के दिन मेरे ऊपर चढाकर पुत्र, पौत्र, धन, वैभव न जाने क्या क्या माँग गई थी। इस विचारे ने अपना सम्पूर्ण शरीर मेरे ऊपर चढा दिया और माँगा क्या ? मेरी प्रसादी अल्पमूल्य का घन्टा। इससे बढकर त्यागी भक्त कौन होगा ? ऐसा सोचकर शिवजी ने उसे अपना गण बना लिया। वह पशुपति का प्रिय पार्षद बन गया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह तो शिवजी का अपने अपराध करने वालों के प्रति कृपा है, अब गुरुद्रोही को वे कैसे दण्ड देते हैं, इस विषय में भी मैं आपको एक बडी ही रोचक कथा सुनाऊँगा उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

निज अपराधी जानि करें हरि क्षमा जीव कूँ।
कछु पौरुष तें जीव तुष्ट कस करे शीव कूँ॥
कृपा सिंधु भगवान् कौन पै कब ढुरि जावें।
कब कापै कार कृपा अनुग्रह रस बरसावें॥
दुष्ट दैत्य भगवान् कूँ, परुस बचन नितइ कहें।
गनें न तिनके दोष कूँ, अज्ञ जानि सब कछु सहें॥

गुरुद्रोहीका कल्याण गुरुकृपाके बिना नहीं

(३८५)

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात् ।
सम्पत्युपचितान्भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ॥१
(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

सबको ईं निस्तार करें हरि क्षमा सबनिकूँ।
किन्तु न पशुपति करें क्षमा खल गुरु द्रोहिनिकूँ ॥
हरि रूठें तो चरन शरन गुरुकी नर आवें।
गुरु रूठें तो कहहु जीव किहि के ढिंग जावें
जे तन मन धन आदि तें, गुरुसेवा नित ईं करें।
प्रभु पद पावें प्रेम तें, भवसागर छिनमहँ तरें ॥

ससार में एक से एक उपकार करने वाले हैं। बहुत से पुरुष अपने गुरुतर स्वार्थों का परित्याग करके दूसरों का उपकार करते हैं। रक्त और पसीना एक करके पैदा किये हुए धन का दुखियो

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! पराजित असुरों को समझाते हुए ब्रह्माजी कह रहे हैं—'हे मघवन् ! तुम अपने असुर शत्रुओं को ही देखो। पहिले वे लोग गुरु का निरादर करने से क्षीण हो गये थे, इस समय फिर से भक्तिपूर्वक अपने गुरु शुक्राचार्य की आराधना करके उन्नति को प्राप्त हो गये हैं।"

को देकर भूखों को अन्न देकर, रोगियों को अमूल्य औषधि पिपासितों को पानी देकर, शीतार्तों को वस्त्र और ईंधन देकर उपकार करने वाले सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, किन्तु इन सबसे बड़े उपकारी वे हैं जो इस ससार में अभय करदें। अज्ञानान्धकार मे पतित प्राणियों को पुण्यालोक प्रदान करें। जो गु अर्थात् अज्ञान को 'रु' अर्थात् नाश करने वाले हैं अज्ञान नाशक गुरु के उपकार का मनुष्य किसी भी प्रकार से प्रत्युपकार नहीं कर सकता। ऐसे परमोपकारी गुरु के प्रति भी जो द्रोह करते हैं, उन्हे रौरव नरका की यातनाये सहनी पडती हैं, उनके ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पडता है, वे एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इसी प्रकार विपत्तियों को सहते सहते ही ससार चक्र मे घूमते रहते हैं। उनका उद्धार भगवान भी नहीं कर सकते। गुरु ही जब कृपा करें तभी उनका उद्धार हो सकता है।

सूतजी कहत हैं—"मुनियो! आपके सम्मुख में गुरुद्रोही की बात कह रहा था। गुरु तो क्षमा की मूर्ति होते हैं, वे शिष्यों के अपराधों की ओर ध्यान नहीं देते, किन्तु भगवान् सब कुछ सह सकते हैं, अपनी आज्ञा का अनादर करने वाले को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु गुरुद्रोही को वे क्षमा नहीं करते इस विषय में मैं आप लोगों के सम्मुख एक अत्यन्त प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ।

परम पावन अवधपुरी में एक अत्यन्त अभिमानी शूद्र रहता था। जिस पुरी मे जन्म लेना अनन्त जन्मों का पुण्य समझा जाता है, उस पुरी मे जन्म लेने पर भी वह उसका महत्व नहीं समझता था। कुछ समय के पश्चात् कालक्रम से किसी विपत्ति के कारण वह अवध छोड़कर अवन्तिका पुरी चला गया। सयोग की बात कि वहाँ उसे एक बड़े ज्ञानी ध्यानी शिव भक्त महात्मा मिल गए। उनकी श्रीसीताराम चरणों मे अनन्य

भक्ति थी। यह शूद्र जाकर उन ब्राह्मण की सेवा करने लगा। भगवद् भक्त तो कृपा के सागर होते ही हैं, उस शूद्र को दीन हीन मति मलीन समझकर ब्राह्मण उसके उद्धार का उपाय सोचने लगे। एक दिन उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—"भैया! शिव रामदास! तू कुछ भजन पूजन करता है?"

उसने कहा—"महाराज! मैं तो कुछ भजन पूजन जानता ही नहीं।"

तब उन कृपालु द्विज ने कहा—"देख भैया! तू इस शिव-जी के पचाक्षरी महामन्त्र का जप किया कर। इसके जप करने से तेरी भगवान् श्री रामचन्द्र के चरणारविन्दों में अविचल भक्ति हो जायगी।"

ऊपर से तो वह शूद्र बड़ा सरल स्वभाव का प्रतीत होता था, किन्तु उसके भीतर तो अँगार भरी थी। वह अपने को बड़ा ज्ञानी ध्यानी पण्डित बना बैठा था। वह साधु ब्राह्मणों से द्वेष करता था, मन ही मन भागवतों को देखकर कुढ़ता था। ब्राह्मण देवता उसके ऐसे व्यवहार से सदा दुखी रहते थे, उस पुत्र की भाँति पुचकार कर दुलार से समझाते—"बेटा, इस प्रकार साधु सन्तों की अवज्ञा नहीं करते। ससार में साधु ही तो सबके सच्चे सुहृद सखा तथा आत्मीय हैं। साधुओं क चरण सेवन से सदा कल्याण ही कल्याण है। तुम साधुओं का वन्दना किया करो, ब्राह्मणों की भक्ति करो।" इस प्रकार वे गुरु-देव अपने श्रद्धालु शिष्य को सब प्रकार से समझाते थे, किन्तु उसकी बुद्धि में कोई बात बैठती ही नहीं थी वह अपने स्वभाव से विवश था। फिर भी गुरु की आज्ञा से अभिमानपूर्वक ही सही शिव मन्त्र का जप किया करता था।

एक दिन वह शिव मन्दिर मे बैठा हुआ जप कर रहा था। कि इतने में ही उसके गुरुदेव मन्त्र दाता वे विप्रवर पधारे। उस शूद्रने देख भी लिया कि गुरुदेव पधारे हैं। उसे इतना भी ज्ञान था, कि उठकर मुझे गुरुदेव को प्रणाम करना चाहिये, किन्तु अभिमान के वशीभूत होकर उसने न गुरुदेव को अभ्युत्थान ही दिया और न उठकर प्रणाम ही की। गुरु तो सरल स्वभाव के साधे सादे थे। उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने जाना भी नहीं कि इसने प्रणाम किया या नहीं। जानते तो भी क्रोध न करते क्षमा ही कर देते। वे भले ही क्षमा करदें, किन्तु शिवजी तो गुरु द्रोही को कभी क्षमा करते ही नहीं। इसलिए शिवने उस शूद्रको शाप दे दिया। मन्दिर में से स्पष्ट मेघ गभीर स्वर में यह आकाश वाणी हुई—"अरे दुष्ट ! तैंने इतने सरल सच्चे, और सर्वसमर्थ गुरु का अपमान किया है, अत तू सैकड़ों योनियों मे जन्मता मरता रह। तुझे नारकीय यातनायें सहनी पड़ें।"

ऐसी आकाशवाणी को सुनकर शूद्र को भी क्लेश हुआ और उन ब्रह्मज्ञानी विप्र को भी क्लेश हुआ। उन्होंने विविध स्तोत्रों द्वारा शिव जी की स्तुति की और अपने शिष्य के अपराध को क्षमा कराना चाहा। गुरु ही जिस पर प्रसन्न हैं, वह अप राधी होने पर भी निरपराधी है। अत शिव जी ने वरदान दे दिया, कि सैकड़ों जन्म धारण तो करने पड़ेंगे, किन्तु जन्म मे मृत्यु मे इसे कोई कष्ट न होगा। सहज में हा जन्म ले लिया करेगा और बिना कष्ट के ही शरीर को जीर्ण वस्त्र के समान त्याग भी कर दिया करेगा, इसके अतिरिक्त इसे पूर्व जन्मों का सदा ज्ञान भी बना रहेगा।" इस वर-दान के अनुसार उसने बिना कष्ट के सैकड़ों जन्म ग्रहण किये।

अन्त में अवध पुरी में एक विप्रवेश में जन्म ग्रहण किया। पूर्व जन्मों के कारण जन्म से ही उसकी श्री रामचरणों में भक्ति थी, तथा रामकथा में अनुराग था। गुरु की कृपासे और शिव जी के वरदान से उसे सभी जन्मों का ज्ञान था और सर्वत्र उसकी अव्याहृत गति थी। उसके पिताने उसे लौकिक वैदिक विद्यायें पढाना चाहा, किन्तु उसे तो गुरु प्रसाद प्राप्त हो चुकाथा; उसका तो रामचरित में दृढ अनुराग हो चुका था इसलिय उसे ये सब बातें अच्छी नहीं लगती थीं। कालान्तर में उसके माता पिता परलोकप्रवासी बन गये, अब क्या था वह स्वच्छन्द होकर इधर से उधर घूमता रहा। ऋषियों के आश्रम पर जाता, उनसे उपदेश देने की प्रार्थना करता, ऋषि मुनि उसे ब्रह्मज्ञान का, योग का साख्य का उपदेश करते किन्तु उसके मन में तो राम-चरित श्रवण करने की चटपटी लगी हुई थी। अत उसका कहीं सन्तोष नहीं होता था।

एक बार घूमते फिरते लोमश ऋषि के आश्रम पर वह पहुँचा। ऐसा प्रसिद्ध है, कि लोमश ऋषि का आयु का ठिकाना नहीं। महाप्रलय में भी उनके शरीर का नाश नहीं होता। उन के सामने हजारों लाखो ब्रह्मा बदल चुके हैं। ब्रह्माजी के शरीरान्त के पश्चात् भद्र कराना चाहिए। अब नित्य नित्य भद्र क्या कराते रहें, अत महाकल्प में जब ब्रह्मा बदलते हैं, तो ये अपना एक लोम गिरा देते हैं, इसीलिये इनका नाम लोमश ऋषि है। ये बड़े ज्ञानी हैं, यह अवधवासी-विप्र-उन्हा की शरण में गया। जाते ही इसने राम चरित के सुनने का इच्छा प्रकट की। मुनिने सगुण को साधन बताकर निर्गुण का निरूपण करना आरम्भ किया। यह तो था सगुण साकार अवतार रूप का उपासक। अतः बार बार यह मुनि के वचनों में शंका करने लगा। बार बार

सगुण रूप वर्णन की प्रार्थना करने लगा। मुनि को इसकी अशिष्टता पर क्रोध आगया। अब तो इसे गुरु के सर्वज्ञ और ज्ञानी होने पर भी शका होने लगी। तब तो लोमश मुनिने कोध में भरकर शाप दिया—"तू बडा कुतर्की अविश्वासी है अत जा चाण्डाल पक्षी हो जा।"

ऋषि वचन अमोघ था, वह व्यर्थ होने वाला नहीं था, ब्राह्मण तुरन्त कौआ बनकर उडने लगा। उसे इस शाप से न हर्ष था विषाद। गुरुजी की कृपा से ज्ञान तो कभी लुप्त होने वाला था ही नहीं। गति भी अव्याहत थी, रामचरित में अनुराग भी था सोचा—जैसे सहस्रों योनियों को भोगा, एक काकयोनि भी सही।" उसकी इस सहन शीलता का महामुनि लोमश पर बडा प्रभाव पडा। उसे बुलाकर रामचरित्र का उपदेश दिया कि जहाँ तुम रहोगे एक योजन तक माया न व्यापेगी। कल्पान्त में भी तुम्हारा नाश न होगा, अजर अमर रहोगे और इच्छा नुसार रूप भी रख सकोगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वे ही रामचरित्र के प्रधान वक्ता श्री काकभुशुण्डिजी हुए। काक भुशुण्डि को अपना कौए का शरीर अत्यत प्रिय है। वे चाहें तो अन्य शरीर भी रख सकते हैं, किन्तु जिस शरीर से राम जी के चरित्र सुने हैं, वह शरीर उन्हें अत्यत प्रिय है। इसीलिये वे अपने आश्रम में रह कर श्री राम चरित की कथा कहते रहते हैं तथा पक्षियों को सुनाते हैं। पक्षिया के राजा गरुडजी ने भी इन्हीं के समीप जाकर समस्त रामचरित्र सुना था।

यद्यपि ये काक भुशुण्डि जी गुरु के अपराधी थे, शिवजी द्वारा शापित थे, फिर भी गुरु कृपा से ये ऋषिकल्प माने जाते हैं। इनका ज्ञान अमोघ है, ये भगवान् के बाल रूप के उपासक

हैं और जब जब भगवान्, अवतार लेते हैं, तबतब ये वहाँ जाकर उनके साथ क्रीडा करते हैं। इसीलिये गुरद्रोह का यदि कोई उपाय है, तो गुरुकृपा ही है। यही बात ब्रह्माजी ने देवताओं से कही थी, कि देवताओं! तुम लोगों ने बहुत बुरा कार्य किया, जो अपने गुरुदेव बृहस्पति जी का अपमान किया। अब तुम्हें इसी प्रकार दु ख उठाने पड़ेंगे।"

इस पर दीनता के साथ इन्द्र ने कहा—"प्रभो! जो हो गया सो तो हो ही गया। अब हमें वह उपाय बताइये, जिससे हम इस विपत्तिसागर से पार हो सकें। आप के अतिरिक्त हमारी कहीं गति नहीं। हम आपकी शरण मे आये हैं, जैसे समझें वैसे हमारा उद्धार करें। इस दोप का जिस प्रकार मार्जन हो सकता हो उस उपाय को हमें बतावें।

श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित से कहते हैं—"राजन्! जब इन्द्रादि देवो ने लोक पितामह ब्रह्माजी की बहुत भाँति से अनुनय विनय की, तब वे ध्यानपूर्वक देवताओं के हित की बात सोचने लगे।

छप्पय

गुरु प्रसाद तें कौन वस्तु है दुर्लभ जगमहँ।
गुरु-प्रसाद पाथेय चलो लै निर्भय मगमहँ॥
गुरु चाहें तो इष्ट देव कूँ तुरत मनावें॥
गुरु चाहें तो तुरत क्रूर कूँ साधु बनावें॥
गुरु चरननिकी शरन महँ, होहि न भव भय की व्यथा।
है प्रसिद्ध ससार में, काक भुशुण्डि की कथा॥

विश्वरूप को पुरोहित बनाने की सम्मति

(३८६)

तद् विश्वरूपं भजताशु विप्रम्,
तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम् ।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो
यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥१

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

बोले ब्रह्मा विश्वरूप ढिँग सुर सब जाओ।
करिकें अनुनय विनय उन्हें गुरुदेव बनाओ ॥
विधि सम्मति सिर धारि चले सब आयसु पाई।
त्वष्टा सुत ढिँग जाइ विपति की बात बताई ॥
सब सुनि बोले त्वाष्ट्र मुनि, कैसे अब नाहीं करूँ।
उपरोहित निन्दित करम, तिहि करि कस अघ सिर धरूँ ॥

ससार में स्वार्थ से बढकर निन्दित और प्रिय कार्य कोई नहीं। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये अर्थी किसी भी दोष को

---

१ समागत देवताओं से ब्रह्माजी कहते हैं—"देवगण! गुरु के बिना विपत्ति से निस्तार नहीं, अत तुम सब शीघ्र ही त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाकर उन्हें अपना गुरु बना लो। वह ब्राह्मण आत्मज्ञानी और तपस्वी है। यदि तुम लोग उसके उचित अनुचित कार्यो को सह सकोगे तो वह तुम्हारे द्वारा सत्कृत होकर तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण कर सकेगा।"

नहीं देखता। स्वार्थ के लिये गदहे को बाप बना लेते हैं। स्वार्थ के लिये मनुष्य नीच से नीच कार्य करने को उद्यत हो जाते हैं। जिससे अपना स्वार्थ सधता है, उससे मनुष्य कितना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। उसके लिए प्राणअर्पण करने का अभिनय करते हैं। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ वहाँ तुम अपने घर, हम अपने घर यही नहीं स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर जिसके द्वारा स्वार्थ सिद्ध हुआ है, उसे हम बड़ी से बड़ी हानि भी पहुँचा सकते, उसका प्राणात भी कर सकते हैं। ऐसे स्वार्थी ससार में जो प्रेमकी खोज करते हैं, वे अज्ञ हैं, भूले हैं। ससार में न प्रेम है न आत्मीयता। सर्वत्र स्वार्थका बोलबाला है। जिससे अपना स्वार्थ है, वह चाहें कितना भी दूर का क्यों न हो, उससे कहेंगे—"अजी, आप तो अपने घर के ही हैं, आत्मीय स्वजन हैं। कितना भी नीच प्रकृतिका क्यों न हो उसे आशुतोष बतावेंगे। कितना भी बुरा क्यों न हो उसे दूध का धुला सिद्ध करेंगे। जिनसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, वे चाहें कितने भी अच्छे हो उनकी ओर देखेंगे भी नहीं। ससार की प्रीति स्वार्थमय है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! पराजित हो जाने पर अपने गये हुए राज्य को लौटाने के निमित्त—अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये—देवताब्रह्माजी की शरण गये। ब्रह्माजी ने उन्हें बहुत डॉटा डपटा और कहा—"तुम लोगों ने अक्षम्य अपराध किया।

देवताओं ने कहा—"महाराज, अब जो हुआ सो तो हो गया, अब क्या करें वह उपाय बताइये।

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, बिना मन्त्रदाता पुरोहित गुरु के किसी की कार्य सिद्धि होती नहीं। इस समय तुम गुरु-

हीन हो गये हो, अत तुम्हारी विजय कठिन है। यदि तुम अपनी विजय चाहते हो, तो तुम अपने गुरु को प्रसन्न करो।"

देवताओं ने कहा—"महाराज ! यदि हमें गुरुदेव के दर्शन होते, तो हम अनुनय विनय करके हाथ पैर जोड़ कर उन्हे मना लेते किन्तु वे तो हो गये हैं अदृश्य। हम लोगों ने उनका ऐसा अपमान किया है, कि शाघ्र ही उनके प्रकट होने का भा सभावना दिखाई नहीं देती। अत हमें आप कोई दूसरा उपाय बताइये जिसके द्वारा हम अपने गये हुए राज्य को फिर से प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छी बात है, जब तक तुम्हारे गुरु प्रसन्न होकर लौटते नहीं, तब तक तुम किसी दूसर योग्य तपस्वी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को अपना गुरु बनालो जो तुम्हे विधि पूर्वक यज्ञ याग आदि धर्म कार्य कराक राज्य प्राप्त करा सके।"

देवताओं ने जिज्ञासा और उत्कठा क साथ कहा—"भगवन् ! आप ही किसी योग्य व्यक्ति का नाम बतादें, जिससे हम उन्हें अपना स्थानापन्न गुरु बनालें।"

यह सुनकर और कुछ देर सोचकर ब्रह्माजा बोले—'देखो, तुम सब लोग कश्यप का सन्तान हो। उन्हीं कश्यप के पुत्र त्वष्टा ऋषि हैं। उन त्वष्टा क एक तेजस्वी, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी पुत्र हैं। उनका नाम विश्वरूप है। इस योग्य हैं, कि तुम्हारे गुरुपने का कार्य भला प्रकार कर सकते हैं। वैसे हैं तो तुम लोगों क वे भतीजे ही, किन्तु ज्ञान वृद्ध होने के कारण वे तुम्हारे पूजनीय हो सकते हैं। उन्हीं क पास जाओ यदि वे इस

बात को स्वीकार करलें । तो समझो तुम्हारा बेड़ापार ही है। वे तुम्हारे गये हुए राज्य को तुम्हे दिला सकते हैं । किन्तु उनमे एक कुछ गड़बड़ सी बात है ।"

देवताओं ने चौंक कर पूछा—"महाराज, वह क्या बात है, उसे भी हमे बता दीजिये, कि पीछे कुछ गडबड न हो ।"

ब्रह्माजी ने गम्भीरता के साथ कहा—"वह बात यह है, कि उनकी माता त्वष्टा मुनि की पत्नी असुर वश की है । मातृस्नेह से सभव है, वे भीतर ही भीतर तुम्हारे शत्रु असुरों का भी पक्ष लें । सो, तुम इस प्रसङ्ग को टालते रहना बात को बढने न देना । उनके असुरों के पक्षपात पूर्ण कर्मों को भर सक सहते रहना ।"

यह सुनकर इन्द्र ने सोचा—"कोई बात नहीं । असुरवश का माता होने से क्या हुआ । मेरी इन्द्राणी शची देवी भी तो असुर वश की ही है । पुलोमा असुरकी पुत्री होनेसे ही पौलोमी उसका नाम है । लडकी जब विवाह के पश्चात् ससुराल मे आजाती है तो उसका पिता का गोत्र बदल जाता है वह पति के गोत्र की हो जाती है । इस समय तो हमारा स्वार्थ है—अपना काम निकालना है । यदि विश्वरूप ने कुछ किया तो पीछे देखा जायगा ।" यही सब सोच समझकर वे ब्रह्माजी से कहने लगे—"अच्छी बात है महाराज, आपकी आज्ञा हमे शिरोधार्य है । हम त्वष्ट तनय श्री विश्वरूप के समीप जाते हैं उनसे सभी प्रकार से विनय

करेंगे, यदि उन्होंने स्वीकार कर लिया, तो तब तक विश्वरूप को अपना गुरु बना लेंगे।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर देवराज इन्द्र ने समस्त देवताओं के सहित लोक पितामह ब्रह्मा जी की चरण वन्दना की उनकी प्रदक्षिणा की और वे विश्वरूप के आश्रम की ओर चल पड़े। ब्रह्माजी के आश्वासन से उनका चिंता दूर हो गई थी, हृदय में विजय की आशा हो गई थी, वे सब के सब प्रसन्न चित्त हुए, त्वष्टा पुत्र परम तेजस्वी विश्वरूप के आश्रम में पहुँचे।

आश्रम ब्राह्मी श्री से देदीप्यमान् हो रहा था। अग्निहोत्र-शाला में दूसरे अग्नि के ही समान बैठे विश्वरूप मुनि पूजा-पाठ कर रहे थे। सहसा अपने आश्रम में देवताओं को आते देख कर वह उठ कर खड़े हो गये। ज्यों ही वे इन्द्रादि देवों के पैर छूने के लिए आगे बढ़े, त्योंही शीघ्रता से देवराज इन्द्र ने उन्हें कस कर अपने हृदय से लगा लिया। उन्हें तो अपना स्वार्थ साधना था, अत आज उनके प्रति अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित किया। अन्य देवताओं ने भी विश्वरूपजी का आलिंगन किया। विश्वरूपजी ने शीघ्रता के साथ सभी को बैठने के लिये यथोचित आसन दिये। जब सब सुखपूर्वक अपने अपने आसनों पर बैठ गये, तब सब को विश्वरूपजी ने पाद्य अर्घ्य आचमनीय तथा फल फूलों के द्वारा पूजा की। विश्वरूपजी की पूजा को स्वीकार करके देवताओं ने उनकी कुशल पूछी और अपने आप ही कहने

लगे—"महानुभाव विश्वरूपजी ! हम आपके आश्रम पर अतिथि होकर पधारे हैं।

विश्वरूपजी ने हाथ जोड कर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"परम पूजनीय देवताओं ! मेरे लिए यह बडे सौभाग्य की बात है, बड़े बडे यज्ञो मे जब आपको अत्यन्त ही श्रद्धा से विधि विधान के साथ बुलाया जाता है, तब आप आते हैं, मेरे आश्रम में आप स्वतः ही पधारे हैं, इससे बढ कर मेरे लिये आनन्द की और कौन सी बात होगी। आपने मेरे ऊपर बडा अनुग्रह किया।

शीघ्रता के साथ देवराज ने कहा—"अनुग्रह फनुग्रह की बात नहीं भैया। हम तो एक प्रयोजन से अपने एक अत्यन्त कार्य से तुम्हारे समीप आये हैं, यदि तुम उसे करने का वचन दो तो हम कहें। एक तो हम तुम्हारे वैसे ही माननीय हैं, फिर आज अतिथि बन कर आये हैं। हमारा काम तुम्हे करना ही होगा, हम इन कदमूल, फल, धूप, दीप नैवेद्य तथा पाद्य अर्घ्य से आज सन्तुष्ट होने वाले नहीं हैं। आज तो तुम्हे हमारी समयोचित कामनापूर्ण करनी होगी।"

विनय के साथ विश्वरूपजी ने कहा—"भगवन् ! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं। आप सब मेरे चाचा हैं। पिता हैं। पिता के समान ही पूजनीय हैं। आप मुझे आज्ञा दें। मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब देवताओं ने विश्व-

रूपजी को अत्यन्त विनययुत और अपने अनुकूल देखा, तो सब की ओर से बड़े ढङ्ग से इन्द्र उनके सम्मुख अपने प्रस्ताव को रखने के लिए प्रस्तुत हुए।

छप्पय

देखो, पौरोहित्य कर्म अतिई निन्दित है।
लोक वेद सर्वत्र देवगण! बात विदित है॥
उपरोहित को अन्न पाप ई विज्ञ बतावें।
अति प्रसन्न ह्वै कुमति ताहि हर्षित ह्वै खावें॥
निष्किञ्चन की वृत्ति तो, कन कन कूँ सञ्चय करै।
पूजि पितर सुर अतिथि ऋषि उदर शेष तें मुनि भरै॥

अकिञ्चनाना हि धन शिलोञ्छनम्,
तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः।
कथ विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः,
पौरोधस हृष्यति येन दुर्मतिः ॥
(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

कहैं देव—'प्रिय विश्वरूप! तुम पुत्र हमारे।
आये है के दुखित वत्स! हम पास तुम्हारे॥
अनुचित उचित बिसारि पुरोहित पद स्वीकारो।
विपति उदधि महँ मग्न पकरि कैं हमें उबारो॥
करो न मन सकोच कछु, छोटे कस गुरु पद गहे।
ज्ञान वृद्धि कूँ वेद विद्, वन्दनीय सब कोउ कहें॥

कभी कभी गुरुजनो के सकोचसे हमे अप्रिय कार्य भी विवश होकर करना पडता है। बडे लोगों के समीप छोटों को ही जाना

---

*देवताओं के पुरोहित बनने के प्रस्ताव पर विश्वरूप कहने लगे—'देवताओ! जो निष्किञ्चन द्विज है, उनका शिल और उञ्छ वृत्ति से इकट्ठा किया अन्न ही परम धन है। उसी अन्न के द्वारा मैं गृहस्थोचित सत्कर्मों का निर्वाह करता हूँ। फिर मैं उस अति निन्दनीय पुरोहित कर्म को कैसे कर सकता हूँ। जिसे प्राप्त करके केवल दुर्बुद्धि पुरुष ही प्रसन्न होते हैं।

चाहिये। जब इसके विपरीत बड़े लोग छोटों के यहाँ स्वय जायँ, तो समझ लेना चाहिए कुछ दाल में काला है, ये हमसे कोई ऐसा कार्य कराना चाहते हैं, जिसे हम स्वेच्छासे करना न चाहते हों। जा कर यदि वे अपना अधिकार जताकर हम से आग्रह करते हैं, तब तो मना करने को स्थान ही नहीं रह जाता। तब तो हमें हाथ जोड़ कर उनके सम्मुख सिर झुकाना ही पड़ता है। "आपकी जैसी आज्ञा" इसके अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं जासकता।

श्री शुक देवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के आश्रम पर पहुँच कर उनके द्वारा सत्कृत होकर समस्त देवताओं की ओर से देवेन्द्र उनसे कहने लगे—"भैया, विश्वरूप! देखो, पुत्रों का प्रधान धर्म है, कि अपने पिता पितृव्यों की समुचित सेवा सुश्रूषा करना पुत्र फिर चाहे स्वय पुत्रवान् हो जाय, किन्तु उसे अपने पूज्य पिता पितृव्यों को लघुभाव से सेवा करनी ही चाहिए। फिर जो ब्रह्मचारी है—जिसका विवाह नहीं हुआ है, उसका तो कार्य ही है सेवा करना। देखो, हम आज कल बड़े सकट मे हैं, फिर हम अतिथि होकर तुम्हारे समीप आये हैं। शास्त्रकारों का ऐसा कथन है, कि मन्त्रदाता आचार्य स्वय साक्षात् वेद की मूर्ति माने गये हैं। जिसने वेद का उपदेश देकर हमारे अज्ञानान्धकार को नाश किया है, वह तो स्वय साक्षात् ज्ञान का अवतार ही है। नर रूपमे हरि ही है। ब्रह्माजी का कार्य है सृष्टि करना। पिता सन्तान की सृष्टि करता है, अत पुत्री और पुत्रोंके लिये पिता स्वय साक्षात् स्वयभूस्वरूप है। पिता का ब्रह्मा के समान सम्मान सत्कार करना चाहिए अपने जो श्रेष्ठ भ्राता हैं, वे मरुत्पति इन्द्र की मूर्ति माने गये हैं। जैसे पृथ्वी अपने से उत्पन्न समस्त चर और अचर जीवों का विना स्वार्थ के, विना विज्ञापन के, विना दम्भ और दिखावट के स्वय कष्ट सहकर

पालन करती है, उसी प्रकार माता भी सन्तानों का पालन करती है। पृथ्वी पर आप मल मूत्र का त्याग करो, उसमे खोद-खोद कर कुएँ बना लो, गड्ढे कर दो, उसे जोत दो, वह बुरा न मानेगी, तुम्हारा हित ही करती रहेगी, इसी प्रकार माता भी सन्तानों के सुख मे सदा तत्पर रहती है। अतः माता भू देवी की साक्षात् मूर्ति मानी गई हैं।

ससार मे वे लोग अभागे हैं, जिनके वहिन नहीं। वहिन अपने भाइयों से कितना प्यार करती है, भाई को भोजन कराते समय बहिन के रोम रोम खिल जाते हैं, उसका हृदय भर आता है। अत. वहिन को मूर्तिमती दया कहा गया है। दया का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो स्नेहमयी भगिनी में करें। ससार में उनसे बडा हत भाग्य कोई न होगा, जिसके हाथ में श्रावणी के दिन किसी बहिन ने राखी न बाँधी हो, भैयाद्वैज के दिन जिसके माथे पर वहिन ने द्वैज का टीका न काढा हो। क्योंकि ससार में दया ही एक हृदय को पिघलाने वाली वस्तु है और वह दया वहिन में ही दृष्टि गोचर होती है। बहुत सी बहिन अपने ऐश्वर्य के मद में दरिद्र भाई को भूल जाती हैं, वे वहिन तो हैं, किन्तु ग्रह गृहीता हैं। उन्हें ऐश्वर्य मद रूपी ग्रह ने पकड रखा है।

अभ्यागत को अग्नि की मूर्ति और अतिथि को स्वय साक्षात् धर्म की मूति कहा गया है। अभ्यागत तो वे कहलाते हैं जो प्रायः माँगने को आते ही रहते हैं। अतिथि उसे कहते हैं जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो। वे चाहें परिचित हों या अपरिचित हों। अतिथि का जिसने तिरस्कार कर दिया, मानों उसने धर्म का तिरस्कार कर दिया। अतिथि का जिसने श्रद्धा सहित पूजन कर लिया, उसने मानों सर्व श्रेष्ठ धर्म का सपादन कर लिया। सम्पूर्ण जीवों में एक ही आत्मा विराजमान है। अत. धार्मिक

पुरुषों का यह प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है, कि अर्थी होकर कोई भी अतिथि अपने समाप आवे उसकी यथा शक्ति इच्छा पूर्ण करनी चाहिए।"

विश्वरूपजी ने कहा—"भगवन्! आप समस्त देवताओं के स्वामी हैं, मेरे पूजनीय हैं आप मुझे आज्ञा दें, मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ।"

इस पर देवेन्द्र ने कहा—"प्रियवर! देखो, तुम्हारे रहते हुए, हम इस प्रकार शत्रुओं के द्वारा तिरस्कृत होकर घर द्वार से हीन हुए मारे मारे फिरें यह बडी लज्जा की बात है। तुम्हारे ये तप, तेज, वेदाध्ययन आदि शुभ कार्य फिर किस काम आवेंगे। तुम ब्रह्मनिष्ठब्राह्मण हो, अतः हमारे गुरु बन जाओ। हम तुम्हें अपना उपाध्याय बनाना चाहते हैं, जिससे हम तुम्हारे तेज के प्रभाव से अपने असुर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर विश्वरूप जी ने बड़ी ही नम्रता के साथ कहा—"देवताओं! आप यह कैसी उलटी गङ्गा बहा रहे हैं। गुरु तो आप सब मेरे हैं। मैं आप का गुरु कैसे बन सकता हूँ। मैं तो आप सब का बालक हूँ। जब मैं आचार्य के सिंहासन पर बैठा करूँगा, तो आप सब मुझे प्रणाम करेंगे। यह बात तो अनुचित हो जायगी।

इस पर देवताओं ने कहा—"नहीं, भैया! यह बात नहीं है। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने से छोटों की भी चरण वन्दना करने से निन्दा नहीं होती। कार्य सिद्धि की गुरुता से सभी काम करने पडते हैं। फिर ब्राह्मणों में तो बडापन वेद ज्ञान के कारण होता है, जो अधिक ज्ञानी है, वही अधिक बड़ा है। केवल अवस्था का बड़प्पन ब्राह्मणों में कारण नहीं माना

जाता । देखिये इस विषय में हम आप को एक वैदिक गाथा सुनाते हैं। एक बड़े विद्वान् युवक मुनि थे। वे सभी शास्त्रों में पारगत थे। उनके पास पढ़ने को उनके पिता, पितामह, पितृव्य तथा और भी बहुत से वृद्ध मुनि आते थे। वे उन सब को वत्स कहकर सम्बोधन करते थे, इस पर उन्होंने शङ्का की कि तुम अपने पिता पितामहों से वत्स क्यों कहते हो ? इसका ऋषियों द्वारा ही समाधान किया गया, कि ज्ञानी सबसे बड़ा है, उसके समीप जो पढ़ने आते हैं, वे चाहें कितने भी बड़े क्यों न हों, छोटे ही हैं, जो ज्ञान वृद्ध है वही यथार्थ में वृद्ध है। अत ! तुम हमारा उपाध्याय बनना स्वीकार करलो। हमारा इस घोर सकट से अपने तपोबल द्वारा उद्धार करो।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं की ऐसी प्रार्थना सुनकर विश्वरूपजी मन ही मन प्रसन्न तो हुए, किन्तु स्थूणा-निखनन न्याय के अनुसार इसकी पुष्टि कराने के निमित्त तथा देवताओं की उत्सुकता बढ़ाने के निमित्त वे कहने लगे—"देखिये, पौरोहित्य कर्म, महानीच कर्म है। इसमें पुरोहित को यजमान के सब पाप लेने पड़ते हैं। दान देते समय पढ़ा जाता है इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में जो पाप किये हैं, वे इस दान से शान्त हो जायँ।" वह पाप कहाँ जाते हैं, पुरोहित—दान ग्रहीता—के पास चले जाते हैं। कई ऐसे दृष्टान्त हैं, एक पुरोहित ने अपने यजमान के हित के निमित्त उसके पुत्र को ही रानी की गोद से लेकर हवन किया था। राजा का तो उससे भला हुआ, किन्तु नरक में वज्रतुण्ड नामक जीव उन्हें अपने तीखी तीखी विशाल चोंचों से काटते हुए राजाने उन्हे देखा। सो देवताओं आप इतने बड़े होकर मुझसे इस नीच कर्म को करने के निमित्त क्यों कहते हैं।

देवताओं ने कहा—"भाई, सभी ब्राह्मण ऐसे सोच लें तो पुरोहिती कर्म कौन करे ? फिर ब्राह्मणोंकी आजीविका कैसे चले। ब्राह्मणों को दान लेकर आजीविका चलाना यही तो ब्रह्माजी ने वृत्ति बनाई है। दान के बिना ब्राह्मणों पर धन कहाँ से आवे और धन न हो तो गृहस्थी का कार्य कैसे चले ?"

यह सुनकर विश्वरूप कहने लगे—"देवताओ ! आप इतने धर्मात्मा सतोगुणी होकर भी ऐसी बातें कर रहे हो ? अजी, निष्किञ्चन ब्राह्मणों को पवित्र और मुख्य आजीविका तो कापोती वृत्ति बताई है। कबूतर की भाँति खेत में बचे हुए दानों को बीन लाना, या जहाँ अन्न बिकता हो वहाँ से फैले हुए कणों को एक एक करके उठा लाना यही प्रधान वृत्ति है। उसी पवित्र अन्न से देवता, ऋषि, पितर तथा अतिथियों का सत्कार करके गृहस्थोचित कार्यों को करे। जो लोभी हैं, दुर्मति हैं अच्छा सुस्वादु चिकना मधुर भोजन करने के लालची हैं, वे पुरोहिताई को ढूँढ़ते फिरते हैं। उन्हें १० घर की पुरोहिताई और मिल जाती है, तो बड़े प्रसन्न होते हैं, फूले नहीं समाते। वे बड़े गर्व से कहते हैं अमुक श्रीमान् हमारे यजमान हैं, हम अमुक श्रेष्ठि वर के पुरोहित हैं। सो देवताओं ! आप मुझसे ऐसा प्रस्ताव न करें। मुझे अपना बालक समझ कर क्षमा करें। यह मैंने शास्त्रीय सिद्धांत बताया है, इससे आप क्रुद्ध न हों और न यही सोचें, कि मैं आपकी आज्ञाका उल्लंघनकर रहा हूँ। छोटा होना महाराज, बड़ा अपराध है। छोटोंको सदा बड़ोंके सामने दबना पड़ता है। बड़े लोग जो भी

उचित अनुचित आज्ञा दें छोटों को सिर झुकाकर उसे स्वीकार ही करना पड़ता है। आगे आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही मैं करूँगा।"

इससे देवताओं को आशा हुई। वे समझ गये विश्वरूप ने मन से इस परम प्रतिष्ठा के पद को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया है। केवल शिष्टाचार के निमित्त मना कर रहे हैं। अतः वे उनसे बोले—भाई, तुम तो अपने घर के ही हो, उचित हो अनुचित हो तुम्हें ही करना है। शत्रुओं के फंदे से तुम्हीं हमें छुड़ाने में समर्थ हो।"

इस पर गम्भीरता पूर्वक विश्वरूप ने कहा—"परम पूजनीय देवताओ! यही तो मेरे सम्मुख धर्म सङ्कट उपस्थित है, उधर तो पुरोहिताई निषिद्ध कर्म है, इधर आप जैसे लोकेश्वर गण स्वयं मेरे आश्रम पर पधार कर मुझे आज्ञा देने आये हैं। आपके प्रस्ताव को स्वीकार न करना—"आपकी आज्ञा न मानना—यह भी तो घोर अपराध है। मैं तो आपका पुत्र हूँ, शिष्य हूँ। शिष्यों का सबसे बड़ा स्वार्थ तो यही कहा जाता है, कि गुरुजनों की आज्ञा में उचित अनुचित का विचार न करके उसे बिना विचारे अविलम्ब स्वीकार कर लेना। अच्छी बात है आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है, मैं आपकी यथाशक्ति सेवा करूँगा। मैं आप सबके उपाध्याय का कार्य करूँगा।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! देवताओं से इस प्रकार

कह कर वे महातपस्वी विश्वरूप जी पुरोहित पद के लिये उनके वरण करने पर, बड़े उद्योग के साथ देवताओं की पुरोहिताई करने लगे।

छप्पय

बिनय सहित पुनि विश्वरूप बोले मृदुबानी।
आप देवगण परम पूज्य ज्ञानी विज्ञानी॥
लोकेश्वर हैं आप पुत्रकूँ देहि बड़ाई।
गुरु आज्ञा महँ होहि, शिष्य की सदा भलाई॥
होवें अब निश्चिन्त हों, पुरोहिताई करहुँ।
तुम सबकी आज्ञा बिहँसि, प्रेम सहित सिर धरहुँ॥

—:※:—

देवताओं के पुरोहित विश्वरूप जी।

(३८८)

तेभ्य एव प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः।
पौरोहित्य वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ७ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

सुनिकें सबई देव हृदय महँ अतिशय हरषें।
बजें दुंदुभी आदि कुसुम नभतें बहु बरसें॥
विश्वरूप को वरण करयो गुरु पद बैठाये।
धर्म कर्म, व्रत नियम सुरनि सब विप्र सिखाये॥
विश्वरूप गुरु पाइके, देवनि की चिन्ता गई।
अवसि मिलें पुनि स्वर्गसुख, यह प्रतीति सबकूँ भई॥

पुरोहित का कार्य है, यजमान के हित मे सदा अग्रसर रहना। जिन कार्योंके करने से यजमान की श्रीवृद्धि हो, यशका विस्तार हो शत्रु से विजय और इह लोक तथा परलोक में सुख की प्राप्ति हो, उन कार्यों को सदा तत्परता के साथ अव्यग्र भाव से करते रहना

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! विश्वरूप ने इस प्रकार देवताओं से पुरोहित बनने की प्रतिज्ञा की। इस पर देवताओं ने उन्हें वरण करके पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित किया। वे, महातपस्वी विश्वरूप जी भी परम समाधि के द्वारा देवताओं की पुरोहिताई करने लगे।

चाहिए। राजाकी उन्नति अवनति अधिकांश पुरोहित के ही ऊपर निर्भर है। पुरोहित जैसा मन्त्र देगा, राजा उसी के अनुसार कार्य करेगा। शुभ मन्त्र हुआ तो शुभ परिणाम होगा अशुभ मन्त्र हुआ तो अशुभ परिणाम होगा। अत पुरोहित का योग्य होना राजा और प्रजा दोनों के लिये श्रेयस्कर है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं के—स्थानापन्न पुरोहित विश्वरूप जी बन गये तब देवताओं को बडा हर्ष हुआ। मदराचल के एक गुप्त स्थान में बैठकर देवताओं ने सम्मति की अब आगे क्या करना चाहिए।

शतक्रतु देवेन्द्र नेअपने नये गुरु विश्वरूप को प्रणाम करके पूछा—"गुरुदेव! अब आप हमें हमारा कर्तव्य बताइये। अब आगे का कर्तव्य समझाइये, हमारी असुरों से विजय कराइये, हमारी गई हुई राजलक्ष्मी को शत्रुओं से दिलाइये। हमें कोई ऐसा जप, तप, मत्र, अनुष्ठान बताइये जिसे करके हम अपने गये हुए ऐश्वर्य को पुन प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर विश्वरूपजी ने गभीरता के साथ कहा—"देवेन्द्र आप किसी बात की चिन्ता न करें। मैं आप को आप का गया हुआ राज तथा ऐश्वर्य पुन अवश्य दिलाऊँगा। असुरों के पास आसुरी बल है, वे आसुरी विद्या के सहारे तुम्हें जीत लेते हैं मैं तुम्हें वैष्णवी विद्या दूँगा। वैष्णवी विद्या के सम्मुख आसुरी विद्या कुछ कर नहीं सकती है। मैं तुम्हें एक ऐसा कवच पहिना दूँगा, कि जिसे पहिन लेने से आप के ऊपर शत्रुओं का कोई भी अस्त्र शस्त्र प्रहार न कर सके।"

देवराज इन्द्र ने कहा—"महाराज, वह कवच किस वस्तु का बना हुआ है। मेरे पास भी अनेकों प्रकार की धातुओं के

कवच हैं, किन्तु मंत्रों द्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणों से बड़े बड़े कवच व्यर्थ हो जाते हैं। आप मुझे कैसा कवच देंगे।"

इस पर विश्वरूप ने कहा—"हे अमराधिप ! मैं आप को धातुओं का बना कवच न दूँगा, मैं आप को मंत्रमय 'नारायण कवच' दूँगा। जिसे धारण कर लेने पर आप को समस्त प्राणी नमस्कार करेंगे। आप कभी भी किसी से पराजित न हो सकेंगे। उस कवच को धारण करके आप असुरों से युद्ध करेंगे, तो अवश्य ही अपनी गई हुई राजलक्ष्मी को शत्रुओं के हाथों से सुखपूर्वक लौटा लेंगे।"

इस पर अत्यंत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए नाकपति देवेन्द्र ने कहा—"महाराज, अब आप का ही हमें सहारा है, जैसे भी उचित समझें हमारा उद्धार करें, हमें पुनः स्वर्ग के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करा दें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इन्द्र की ऐसी प्रार्थना करने पर विश्वरूप जी ने उन्हें विधि विधान पूर्वक साङ्गोपाङ्ग नारायण कवच का उपदेश दिया। इसको प्राप्त करके देवताओं ने असुरों पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि असुरों की रक्षा असुराचार्य शुक्र कर रहे थे; वे अपने विद्या बल से असुरों को परास्त होने देना नहीं चाहते थे, किन्तु वैष्णवी विद्या के सम्मुख आसुरी विद्या अधिक काल तक कैसे ठहर सकती है। 'नारायण कवच' को धारण करके जब देवेन्द्र ने युद्ध किया, तो सभी असुर अपने अपने अस्त्र शस्त्रों को रण में ही छोड़कर भाग खड़े हुए। वे अपने आप ही स्वर्ग के सिंहासन को छोड़ गये। देवराज इन्द्र की विजय हुई। उन्हें पुनः स्वर्गीय राज्यलक्ष्मी ने वरण किया। विश्वरूप की कृपा से प्राप्त नारायण कवच द्वारा उन्होंने

असुरों को परास्त कर दिया। उदार बुद्धि विश्वरूप ने अपने यजमान इन्द्र की भलाई के लिये दैत्यों के सहार निमित्त यह अत्यन्त गुप्त विद्या उन्हें दी थी।

यह सुनकर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! यह तो बड़ी चमत्कार पूर्ण बात है। जिस वैष्णवी विद्या से इन्द्र ने शुक्राचार्य के द्वारा रक्षित असुरों की बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना को बात की बात मे लीला द्वारा खेल खेल में ही जीत लिया। वह विद्या तो अमोघ होगी। आपने उस विद्याका नाम 'नारायण कवच' बताया है। वह नारायण कवच क्या है? उसे कैसे धारण करते हैं, कब धारण किया जाता है। उसके धारण करने की विधि क्या है। कृपा करके मेरी इन सभी बातों का उत्तर दीजिए मेरे मन में बड़ा कुतूहल हो रहा है?"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से इस प्रकार पूछा, तो व्यासनन्दन परमहंस चूडामणि श्रीशुक ने उन्हे नारायण कवच विधि सहित बताया। उसे सुनकर महाराज परीक्षित् बड़े सन्तुष्ट हुए। यह नारायण कवच बड़ा ही शक्तिशाली और अमोघ बताया गया है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग! सूतजी! उस 'नारायण कवच' का उपदेश हमें भी दीजिये। उसके धारण की विधि हमें भी बताइये। हम भी अपने शत्रुओं को उसे धारण करके पराजित कर सकें।"

इस पर हँसते हुए सूतजी ने पूछा—"आप तो समदर्शी हैं, अजात शत्रु हैं। आप तो अपनी ओर से किसी से शत्रुता करते ही नहीं, फिर आप किन शत्रुओं को परास्त करना चाहते हैं?"

इस पर गम्भीरता के साथ शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह ठीक है, कि हमारे बाहर कोई शत्रु नहीं है, किन्तु भीतर तो ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर रूपी ६ शत्रु सदा भरे ही रहते हैं। ये सब महापराक्रमी असह्यवेग वाले काम को सताते हैं। इन्होंने हमारे अन्त करण को क्षुभित सा बना रखा है, हम सब नारायण कवच को धारण करके इन्हीं शत्रुओं का सहार करना चाहते हैं। बताइये नारायण कवच पहिन कर ये शत्रु जीते जा सकते हैं ?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! जिसने भगवत् कथा कीर्तन का आश्रय ग्रहण कर रखा है, जो हृदय से सदा सर्वदा उसी में लगे रहना चाहते हैं। उनके सम्मुख काम क्रोधादिक शत्रु फटकने ही नहीं पाते। इस नारायण कवचमें भी नारायण श्रीविष्णुके नामके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यही नाम तो सार है अत उसी मे सब कुछ है। यह कवच अङ्गन्यास करन्यास आदि अनेकों विधि विधान के सहित किया जाता है, इस भागवती कथा के प्रसङ्ग में मैं इस विधि अनुष्ठान का वर्णन करना नहीं चाहता। अब इसका विस्तारके सहित वर्णन प्रसगानुसार किसी प्रसग में किया जायगा। इस समय तो मैं आप को विश्वरूप जी की कथा सुना रहाहूँ। फिर जैसी आपकी आज्ञा हो। कहें तो नारायण कवच की ही विधि आदि सुनाऊँ ?"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"नहीं, सूतजी, हमारा कोई

आग्रह नहीं। पहिले आप कथा ही सुनावें। पीछे—जब मन्त्र अनुष्ठान का प्रसग आवे तभी इसे सुनाना।"

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी अब आगे, जिस प्रकार विश्वरूप जी ने देवताओं के साथ छल कपट किया है, उस कथा को सुनाने के लिये सोचने लगे।

छप्पय

विश्वरूप गुरु बने नाकपति निर्भय कीन्हो।
रच्छा के हित दिव्य कवच नारायण दीन्हों॥
नारायण को कवच धारि जे रन महँ जावें।
होहिं पराजय नहीं विजय शत्रुनि पै पावें॥
पाई विद्या वैष्णवी, अति प्रसन्न सुरपति भये।
करी चढ़ाई सुरनि ने, असुर पराजित करि दये॥

विश्वरूप की देवेन्द्र द्वारा हत्या

(३८६)

स एव हि ददौ भाग परोक्षमसुरान्प्रति ।
यजमानोऽवहद्भाग मातृस्नेहवशानुगः ॥
तद्देवहेलन तस्य धर्मालीक सुरेश्वरः ।
आलक्ष्यतरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुपा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० ३४ श्लो०)

छप्पय

त्वष्टा सुत गुरु पाइ भये स्वर्गेश इन्द्र पुनि ।
करवावें नित यज्ञ पुरोहित विश्वरूप मुनि ॥
उच्चस्वरतें बोलि सुरनि को आहुति देवें ।
चुपके तें कछु यज्ञ भाग दे असुरनि सेवें ॥
मातृ पक्ष अनुराग लखि, देवनि सशय ह्वै गयो ।
उपरोहित अविनय निरखि, क्षोभ इन्द्र मन अति भयो ॥

स्वार्थ के वशीभूत होकर जो श्रद्धा, जो प्रेम, जो सम्बन्ध आदि किये जाते हैं, वे उस स्वार्थ के पूरा होने पर या स्वार्थ मे आघात होने पर नष्ट हो जाते हैं। हम किसी से-इसलिये

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! जब विश्वरूप देवताओं के पुरोहित हो गये, तो ऊँचे स्वर से प्रत्यक्ष तो देवताओं को भाग देते थे और मातृवश के स्नेह से धीरे से गुप्त रूप से यज्ञ में दैत्यों को भी

मैत्री करते हैं, कि वह धनी है। समय समय पर हमारी धन के द्वारा सहायता करता रहेगा, दैवयोग से उसका सब धन नष्ट हो जाय, वह निर्धन बन जाय, तो हमारी मैत्री का भी अन्त हो जायगा। अथवा हम उससे जो आशा रखते थे वह आशा पूर्ण न हो। वह कृपणता के वश हमें द्रव्य न दे तो भी मैत्री न रहेगी, क्योंकि उससे जो मैत्री की थी वह उसके शरीर से नहीं की थी। उसके धन से की थी। जहाँ धन न मिला वहाँ मैत्री भी समाप्त। स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्धियों को माता, पिता, गुरु पत्नी, पुत्र, मित्र तथा गुरुओं को भी मार डालते हैं। अपने स्वार्थ में व्याघात होने पर मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप देवताओं के धर्माचार्य पुरोहित बन गये। नारायण कवच के प्रभाव से उन्होंने देवताओं की गई हुई राज्य लक्ष्मी को पुनः असुरों से लौटाकर इन्द्र को दिला दी, इससे उनकी देवताओं में बड़ी प्रतिष्ठा हुई। समस्त देवता उनका अत्यधिक सम्मान करने लगे। वे स्वर्ग में परम गौरव के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। राजन! जब अपना कोई सम्बन्धी किसी अधिकारके पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तो हम लोग उससे उचित अनुचित सभी प्रकार की आशायें रखते हैं और उसे भी लज्जावश शील सकोचवश हमारी बातें मानने को बाध्य होना पड़ता है।

भी हविर्भाग द देते थे। इन्द्र ने जब इस प्रकार पुरोहित के द्वारा देवताओं की अवज्ञा और धर्म का उल्लङ्घन होते देखा, तो अत्यन्त भयभीत होकर रोष में भरकर शीघ्रता से उनके तीनों सिर काट डाले।

असुरों ने जब देखा कि हमारी लडकी का लडका ही देवताओं के यहाँ मर्वे सर्वा है। उसी के अधीन समस्त देवता हैं, तो उन्होंने तिकडम भिडानी आरम्भ की। उन्होंने त्वष्टा मुनि के यहाँ से विश्वरूप की माता को बडे आदर सत्कार से बुलाया अब के वे बडा भारी आदर मत्कार करने लगे। राजन्! जिस सम्बन्धी से हमें कुछ आशा होती है, उसका तो हम देवता की भाँति पूजन करते हैं, जिससे कुछ स्वार्थ मिद्धि की आशा नहीं होती, उसे देखते ही नाक भौं सकोड लेते हैं और मन ही मन सोचते हैं—"यह दिन काटने के लिए रोटी खाने के लिए आगया है। कब यहाँ से जाय, एक दो दिन रह भी जाता है तो हम कह भी देते हैं, भाई अपना काम देखना चाहिए। ऐसे बेकार बैठने से क्या लाभ ?"

असुरों ने विश्वरूप की माँ का अत्यन्त स्वागत सत्कार करके कहा—"बेटी! देख' यह बडी प्रसन्नता की बात है, कि तेरा पुत्र देवताओं का पुरोहित बन गया है, किन्तु उसके द्वारा हमारा अनिष्ट होता है। तू उससे किसी प्रकार कह देना, हमारा भी कुछ ध्यान रखा करे। ननसाल का भी तो उसे कुछ हित करना चाहिये।"

इस बात को सुनकर और पैतृक स्नेह के वशीभूत होकर विश्वरूप की माता ने स्वीकार कर लिया कि अब के वह कभी आवेगा तो मैं उससे अवश्य आग्रह पूर्वक इस बात को कहूँगी। असुरों का मनोरथ सिद्ध हो गया। कुछ समय के पश्चात् उसे त्वष्टा मुनि के यहाँ वे सब पहुँचा आये।

एक दिन विश्वरूप देवगुरु के परम वैभव के सहित दिव्य विमान में बैठकर अपने पिता माता के दर्शनों के लिए आये। अपने पुत्र का ऐसा ऐश्वर्य और प्रभाव देखकर माता पिता को

परम प्रसन्नता हुई। पैरों मे पड़े हुए अपने पुत्र को उन्होंने उठाकर छाती से लगाया और सिर सूँघकर अनेकों आशीर्वाद दिये। कुशल क्षेम के अनन्तर माता उन्हें जलपान कराने भीतर ले गई। जलपान कराते २ माता ने पूछा—"बेटा! तू वहाँ क्या किया करता है?"

विश्वरूपजी ने कहा—'अम्मा! मैं वहाँ यज्ञ कराता हूँ, उसमें देवताओं को हविर्भाग दिलाया करता हूँ, जिसको पाकर वे पुष्ट होते हैं।

माता ने पूछा—"तू असुरों को कुछ भाग नहीं देता?"

विश्वरूपजी ने चौंककर कहा—"नहीं माँ! असुरों को मैं कैसे दे सकता हूँ। असुर तो देवताओं के शत्रु हैं।"

माताने अत्यन्त स्नेहसे कहा—"भैया! देवताओं के शत्रु भले ही हों तेरे तो शत्रु नहीं हैं। तेरे तो मातृ वश के ननसाल क है। देवता तेरे पिता के पक्ष के हैं, असुर मातृ पक्ष के हैं तुझे दोनों का ही ध्यान रखना चाहिये। सभी लोग अपने सम्बन्धियों से आशा लगाये रहते हैं कि बड़े पद पर प्रतिष्ठित होने पर हमारा कुछ कल्याण करेगा।"

मुँह के ग्राम को मुँह में ही लिए हुए विश्वरूप जीने कहा—"अम्मा! यह सब तो सत्य है किन्तु मुझे तो वहाँ सबके सामने भाग देना पड़ता है। यदि उन्हें पता चल जाय कि मैं उनके शत्रुओं को भी भाग देता हूँ। तो वे सब विरुद्ध हो जायँ। अभी मेरा पद स्थाई भी नहीं है। अभी तो मैं स्थानापन्न देवगुरु बनाया गया हूँ।"

माता ने कहा—"सब के सामने देने की क्या आवश्यकता है भैया! एक काम करना उच्चस्वर से तो देवताओं को जैसे देता

है दियाकर। बीच बीच में जब इन्द्र का मन इधर उधर होजाय, तो चुपके असुरों का भाग भी हौले से सरका दिया।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भला बुरा सिखाने वाली—अच्छा बुरा सस्कार डालने वाली मातायें ही होती हैं। पुत्र को वे जैसा सिखा देंगी वैसा ही वह करेगा। माता के स्नेह वश विश्वरूपजी ने यह बात स्वीकार करली। माता पिता को प्रणाम करके वे स्वर्ग को चले गय।

अब वे यज्ञ भाग देने में धूर्तता करने लगे जब यज्ञ कराते तो देवताओं को तो बड़े उच्च स्वर से विधि विधान से सत्कार पूर्वक हविर्भाग देते। सब को दिखाकर प्रत्यक्ष नाम लेकर कहते—"इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, कुवेराय स्वाहा" इत्यादि इत्यादि जहाँ देवताओं की आँखें बची कि झट से चुपके से कुछ हविभाग असुरोंको भी सरका देते और हौलेसे कह देते ' प्रह्लादाय स्वाहा, बलये स्वाहा नमुचये स्वाहा" १०।२० दिन तो ऐसे चला। किन्तु पाप पुण्य सदा थोड़े ही छिपा रह सकता है। देवता समझ गये, कि हमारे ये नय पुरोहितजी तो पक्षपाती हैं, प्रतीत होता है, ये हमारे शत्रुओं से मिल गये हैं। कुछ चुपके-चुपके भेंट दक्षिणा उनसे भी उड़ाते हैं। अब क्या किया जाय, देवताओं मे भीतर ही भीतर बड़ा असन्तोष फैल गया। सभी नये पुरोहित के विरुद्ध हो गये। इन्द्र ने सोचा—यदि इसका ऐसा ही बर्ताव बना रहा, तब तो यह दैत्यों का बल बढ़ा कर हमारा नाश ही करा देगा। अब तो इन्द्र बड़े भयभीत हुए। यह तो पहिनने के वस्त्रों मे छिपा हुआ सर्प ही निकला उसने तो देवगुरु की प्राचीन मर्यादा का सर्वथा उल्लघन कर दिया।

विश्वरूप वैसे तो तपस्वी थे, किन्तु उनमें कुछ दोष था। उनके तीन मुख थे। मुनि के पुत्र होने से उनका एक मुख तो

मानवीय था, उससे वे अन्न आदि मनुष्यों के भोज्य पदार्थों को खाते थे, देवताओंके गुरु होनेसे उनका एक मुख देवों का जैसा था, उससे वे यज्ञ में दिये हुए सोम—अमृत का पान करते थे। असुरों के घेवते होनेके कारण एक मुख उनका असुरों जैसा था। उससे वे सुरापान भी करते थे। इसका कारण वे देवगुरु होने के सर्वथा अयोग्य थे। यदि वे ऐसी धूर्तता न करते, तो देवता जैसे तैसे उन्हें निभा भी ले जाते, किन्तु वे तो घर में ही कपट करने लगे। शत्रुओं के बल को बढ़ाने का ही उद्योग करने लगे। इसे देवराज इन्द्र कैसे सह सकते थे। अतः एक दिन जब वे बैठे ध्यान कर रहे थे, तो पीछे से चुपके से इन्द्र ने आकर और क्रोध में भरकर उनके तीनों सिर काट डाले विश्वरूप के तीनों सिर धड़ से अलग हो गये। उन तीनों सिरों से तीन पक्षी उत्पन्न हुए। सुरापीथ मुख से कलविङ्क (घोविन) पक्षी, सोमपाथ से कपिञ्जल (खजन) पक्षी और अन्नाद सिर से तित्तिर (तीतर) पक्षी हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्वार्थवश इन्द्र ने अपने धर्माचार्य पुरोहित की हत्या कर दी और विश्वरूप ने भी अपने कपट व्यवहार का तत्काल यथोचित फल पा लिया।"

छप्पय

निरखि स्वार्थ महँ विघ्न इन्द्र ने खड्ग निकार्यो।
क्रुद्ध सुरेश सिर तीन काटि उपरोहित मार्यो॥
सोमपीथ सिर भयो कपिञ्जल, सुरापीथ सिर॥
भयो पाक्ष कलविङ्क तीसरो नर सिर तित्तिर॥
द्विज हत्या सुरपति निकट, आई, अञ्जलि महँ लई।
हत्यारे देवेन्द्र हैं, यह प्रसिद्धि जग महँ भई॥

(३६०)

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ॥
भूम्यम्बुद्रु मयोपिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ।*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

बनि हत्यारे फिरें वर्ष भरि सुरपति जहँ तहँ ।
बाँटी हत्या इन्द्र धरा नग नारि वारि महँ ॥
गड्ढा पुनि भरि जायँ लह्यो वर धरा प्रेम तें ।
कटि कें पनपें वृक्ष इन्द्र वर दयो नेम तें ॥
व्यय करिके हू नित बढे, बदले महँ वर जल लह्यो ।
रति सुख शक्ति सदा बनी, रहे कामिनिनि वर दयो ॥

पाप चाहे धनी करे निर्धन करे, समर्थ करे असमर्थ करे बली करे निर्बल करे उसका फल तो सभी को भोगना पडेगा। अन्तर इतना ही है। असमर्थ असहाय पुरुष को अपना दुःख

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विश्वरूप के मरने से जो ब्रह्महत्या इन्द्र को लगी थी, उसे ईश्वर होने पर भी उन्होंने अञ्जलि में ग्रहण किया। एक वर्ष के अन्त में प्राणियों में अपनी शुद्धि प्रकट करने के निमित्त उसे पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्रियों में इस प्रकार चार स्थानों में बाँट दिया।

अकले में अपने आप ही सहना पडता है। छूटने तो समर्थ भी नहीं पाते शुभाशुभ कर्मों का भोग तो उन्हें भी करना ही पडता है, किन्तु वे अपने दु ख को बाँट कर भोगते हैं। उनके दु ख में उनके आश्रित लोग भी दु खी होते हैं और बहुत कुछ दुख तो सहानुभूति से ही चले जाते हैं। इसीलिये सम्बन्धी लोग रोगी के प्रति समवेदना प्रकट करने जाते हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु कुटुम्बी सेवा और सहानुभूति के द्वारा दु ख को, पाप को, बँटा लेते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इन्द्र ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर विश्वरूप को मार तो डाला था, किन्तु उन्हें ब्रह्महत्या तो लगा है। असावधान बैठे हुए वेदज्ञ ब्राह्मण को उन्होंने पीछे से आकर चुपके से मार डाला इसलिये ब्रह्म हत्या उनके समीप आई, कि मैं तुम्हारे ऊपर लगूँगी। इन्द्र ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होने—"अञ्जलि बाँधकर विनय के साथ कहा—"हाँ देवि! मैंने स्वार्थवश ब्राह्मण की हत्या की है, मैं ऐसा करने के लिये विवश था, ऐसा न करता तो सब देवता पुन श्रीहीन होकर स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाते। मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता, कि मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है। मैंने ब्रह्महत्या की है और तुम मेरे शरीर में चिपट जाओ।" इतना सुनते ही ब्रह्महत्या इन्द्र के समर्थ होने पर भी उनके शरीर में चिपट गई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो ऐसा सुना है, जिसे अहंकार न हो, तथा जिसकी बुद्धि उस कर्म में लिप्त न होती हो, तो वह चाहे जितनी भी हत्यायें करे, वह उनके पापों से बँधता नहीं। इन्द्र तो ज्ञानी थे, बड़े बड़े ऋषि मुनियों के सत्संगी थे, तीनों लोकों के ईश थे फिर उन्होंने

स्वेच्छा से ब्रह्महत्या को ग्रहण क्यों किया? कह देते मैं मारने वाला हूँ ही नहीं। गुण गुणों मे प्रवृत्त हो रहे हैं। विश्वरूप के मरने का समय आगया, मर गया। खड्ग के द्वारा उसकी मृत्यु बदी थी इसलिये खड्ग से मृत्यु हो गई।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग! केवल बातें बना देने मे ही तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। ज्ञान की बातें रट लेने से इधर उधर की पोथी पढ लेने से, जो जो ज्ञान मानी—मिथ्या ज्ञानी बन जाते हैं, उनकी अन्त में दुर्दशा हो होती है। महाभाग! ज्ञानी की दृष्टि मे तो जय पराजय सुख-दुःख, जीवन मृत्यु, अपना पराया आदि द्वन्द्वाली वस्तुएँ हैं ही नहीं वह तो निर्द्वन्द्व हो जाता है। जब देवेन्द्र ने अपने उद्योग से कर्म करके स्वर्ग ऐश्वर्य को पुन प्राप्त करके स्वीकार किया तो ब्रह्महत्या रूपी कर्म को करके भी उसके फल को स्वीकार करना ही चाहिये। ऐसा नहीं कि अच्छा किया, वह तो मैंने किया और बुरा किया तो प्रकृतिवश गुणों मे गुणों के द्वारा स्वत होगया मैं इसका फल क्यों भोगूँ। यह तो वही बात हुई, मीठा मीठा गप गप, कडवा कडवा थू थू।" इस विषय में आप एक सुन्दर दृष्टान्त सुन लीजिये, उससे आप इस विषय को भली भाँति समझ जायँगे।

पचनद देश में एक ज्ञानमानी पुरुष था। उसने इधर उधर से कुछ भाषा की किताबें पढकर अद्वैत की कुछ बातें याद कर रखी थीं। इसीसे वह अपने को जीवन्मुक्त प्रसिद्ध करता था। वह घर गृहस्थ के सभी कामों को करता, जो काम अच्छा हो जाता, उसे तो सोचता यह मेरे पुरुषार्थ से हुआ है और जो कोई बुरा काम हो जाता, तो कह देता—"मैं कर्ता भोगता नहीं

हूँ। मैं तो कर्मों से सदा पृथक् रहता हूँ, शुद्ध बुद्ध हूँ। मुझसे और कर्मों के फलों से क्या सम्बन्ध ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अज्ञ पुरुष को तो समझाया भी जा सकता है अपठित पुरुष को तो पढ़ाया भी जा सकता है, किन्तु जो वास्तव मे हैं तो अज्ञ, किन्तु अपने को लगाते बड़ा भारी ज्ञानी, हैं तो वास्तव मे मूर्ख-किन्तु इधर उधर की कुछ बातें सुन सुनाकर अपने को बड़ा भारी ज्ञानी मान बैठे हैं—ऐसे ज्ञानलव दुर्विदग्ध अधकचरे पुरुषों का पठित मूर्खों को—समझाने मे ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं होते। भगवान् ही कृपा करें तो उनका उद्धार भले ही हो। क्योंकि वे तो स्वयं ही स्वयभू बनते हैं। सोते हुए को जगाया जा सकता है, किन्तु जागा हुआ ही जो सोने का बहाना बनाये हुए है ऐसे को कोई कैसे जगावे। ऐसा ही वह ज्ञानमानी पुरुष था।

उसने एक बड़ा सुन्दर बगीचा लगाया था। उस बगीचे मे उसकी अत्यन्त ही आसक्ति थी, उसे भाँति-भाँति से सजाता था। दूर दूर से भाँति भाँति के पेड़ मँगवाकर उसमें लगवाता था। सायकाल को १०।५ लोगों को लेकर उसमे बैठकर वह ज्ञान चर्चा किया करता था। अपने को आचार्य मानकर वह ब्रह्म सत्य और जगन्मिथ्या की, तोता रटन की बातें किया करता था। मुनियो ! आप जानते ही हैं ये स्वार्थी लोग गिरगिट के भाई बन्धु होते हैं। जिनके द्वारा इनका स्वार्थ सधता है उसके अनुरूप ही ये रङ्ग बदल लेते हैं। किसी समर्थ प्रभावशाली व्यक्ति को देखते हैं, कि इसे उपदेश देने का व्यसन है और इसके द्वारा कुछ माल टाल मिलने की सम्भावना है, तो वहाँ ये देवता बड़े भारी जिज्ञासु बन जायँगे। सबसे पहले उपदेश सुनने पहुँचेंगे तर्क वितर्क करेंगे। किसी को कीर्तन करते देखेंगे तो वहाँ जाकर बड़े

भगत बन जायँगे। कीर्तन करते २ लोट पोट हो जायंगे। भाव समाधि का ढोंग रच लेगे। साराश यह कि जिस रूप से भी स्वार्थ सिद्ध होता देखेंगे वैसा ही रूप धारण करलेगे। उन ज्ञान मानी महाशय के पास १०।५ चापलूस आ आ कर उनकी बड़ाई किया करते थे—"आप तो जनक के सामन विदेह हैं। आपको क्या करना शेष है। आप सब तो लोकसंग्रह के निमित्त कर ही नहीं रहे हैं।" इन बातोंको सुन २ कर वह और भी फूलकर कुप्पा हो जाता और अपने को बडा भारी ज्ञानी समझता है।

एक दिन की बात है, कि वह अपने बगीचे मे टहल रहा था। इतने मे ही एक बूढी गौ आई और उसके अभी दूर से नय मँगाये हुय बहुमूल्य पौधो को खाने लगी। उन पौधों को उसने बहुत व्यय करके बडे श्रम से मगाया था, दृष्टि पड़ते ही वह गौ को हटाने को दौडा। सामने एक डण्डा पडा था, उसने क्रोध मे भर कर डण्डा उठा लिया और ३—४ गौ मे कस कर मार दिये। गौ दुबली थी डण्डे लगते ही वहाँ की वहीं मर गई। अब तो हत्या अपना भयङ्कर रूप बनाकर उसके ऊपर झपटी।

हत्या को अपनी ओर आते देख कर उस ज्ञानमानी ने पूछा—"तू कौन है, क्यों मेरे शरीर से चिपटना चाहती है?"

हत्या ने कहा—"मैं हत्या हू, तैने अभी गौ का वध किया है, इसलिये तेरे ऊपर सवार होऊँगी।"

उसने कहा—"मैंने तो गौ को नहीं मारा, गौ को तो इस डण्डे ने मारा है इसके ऊपर लग जा।"

हत्या यह सुनकर डडे के पास गई। तब डण्डे ने विनीत भाव मे कहा—"मैं तो जड हूँ मैं बिना हाथ के कुछ कर नहीं सकता। मुझसे तो हाथ ने कराया, अत हाथ पर लग जा।" यह सुनकर हत्या हाथ के पास गई। हाथ ने कहा—"मैं तो कुछ करता नहीं।

हाथ के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं। उनकी प्रेरणा से हाथ आदान प्रदान आदि क्रियाओं को करते हैं अतः उनको जाकर लग।" तब हत्या इन्द्र के पास गई। इन्द्र ने सब सुनकर कहा—"हम तो जो भी कुछ करते हैं, ब्रह्मा जी की आज्ञा से करते हैं तू ब्रह्मा जी के पास जा।" हत्या विचारी ब्रह्मा जी के पास पहुँची। सब सुनकर ब्रह्मा जी ने कहा—"हम स्वतन्त्र थोड़े ही हैं। जनार्दन भगवान् हमें जैसी प्रेरणा करते हैं वैसा ही करते हैं। तू उनके शरीर में लग जा।"

हत्या इतनी दूर चलते चलते थक गई थी, किन्तु उसका तो काम ही यह है, हत्या करने वाले के शरीर में जाकर चिपट जाना। अतः वह जैसे तैसे सुस्ता सुस्ता कर भगवान् जनार्दन के समीप पहुँची और बोली—"भगवन्! मैं आपके शरीर में लगूँगी।"

भगवान् ने कहा—"तू मेरे शरीर में क्यों लगना चाहती है?"

हत्या ने कहा—"महाराज! वह जो गौ मार डाली है, किसी के शरीर में तो मुझे लगना ही है।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"वाह! यह अच्छा रहा मारे कोई तू लगे किसी के शरीर में। उस ज्ञान मानी ने गौ को मारा है, उसी के शरीर में लग जा।"

हत्या ने कहा—"भगवन्! वह तो कहता है, मैं कर्ता भोक्ता हूँ ही नहीं। फिर!

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अच्छा, वह यह कहता है, चलो मेरे साथ।"

अब क्या था। आगे आगे वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाये भगवान् चल रहे थे, उनके पीछे पीछे नीले वस्त्रों से अपने भयकर

मुख और रूखे बालों को छिपाये हुए हत्या चल रही थी। दोनों उस बगीचे में पहुँचे। वे ज्ञानमानी महाशय इधर उधर टहल रहे थे। लाठी टेकते टेकते, खाँसते-खाँसते वृद्ध ब्राह्मण वहाँ पहुँचे। देखते ही कहने लगे—"अहा हा हा! कैसा सुन्दर बगीचा है। इसके लगाने वाले धन्य हैं? कितनी बुद्धिमानी से लगाया है, कैसे सुन्दर सुन्दर वृक्ष ससार भर से लाकर यहाँ इकट्ठे कर दिये हैं। उस पुरुष के पुण्य पुरुषार्थ की जितनी भी प्रशसा की जाय उतनी ही थोडी है।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपनी प्रशसा मिश्री से भी अधिक मीठी, खीर से भी अधिक स्वादिष्ट और गुलाब जामुन से भी अधिक हृद्य लगती है। वह ज्ञानमानी सुनते ही उन ब्राह्मण के समीप आ गया। वह समझ गया, कि ये वृक्षों के पारखी हैं। अपनी कलाकी कोई कला कोविद मुक्तकठ से प्रशसा करे, तो कलाकार को अत्यधिक हार्दिक प्रसन्नता होती है। अत वह प्रशसा सुनते ही प्रणाम करके नम्रता के साथ सम्मुख खडा हो गया। अपने लाठी को दृढता से जमाकर और मोतिया बिन्दु को जाली से ज्यादा सफेद आँखों को उठाकर बोले—"लालाजी आप ही इस बगीचे के स्वामी हैं क्या?"

बनावटी नम्रता के साथ कहा—"अजी, भगवन्! काहे के स्वामी हैं, मैं तो आपका सेवक हूँ।"

ब्राह्मण का पोपला मुख खिल गया। बड़े स्नेह से बोले—"अच्छा, साधु साधु। बडा सुन्दर बगीचा लगाया है। तुमने स्वय ही इसे अपनी बुद्धि से लगाया है या किसी योग्य अनुभवी माली से पूछ कर लगवाया है? वृक्ष ऐसे ढङ्ग से यथा स्थान लगे हैं, कि इस प्रकार साधारण बुद्धि का मनुष्य नहीं लगा सकता।"

अब तो ज्ञानमाना जी को अपनी चातुरी दिखाने का अवसर मिल गया। वह दृढता के स्वर में बोले—'अजी महाराज! ये माली फाली क्या जाने। मैंने स्वय दिनरात्रि परिश्रम करके इसे लगाया है।"

ब्राह्मण प्रसन्नता प्रकट करते हुये बोले—"हाँ, तभी तो आप बड बुद्धिमान मालूम पड़ते हैं। य सतर कहाँ से मँगाये ?"

इस पर वे ज्ञानमानी वाले—"महाराज! इन सतरों म बडा श्रम करना पडता है। चकोतरे की जड म कलम लगाई जाती है। यदि ऊपर का डाली सूख गई, जड से कल्ला फोड दिया, तो सतरा न होकर चकोतरा हो जायगा। यदि गरमियों मे मिट्टी हटाकर इन के जड मे धूप न दी गई, तो अच्छी तरह फलेंगे नहीं। पानी न दिया तो वहुत छोटे छोटे खट्टे फल लगेंगे। इन मे एक प्रकार का जाला लग जाता है, उसे न हटाया तो फल हो न लगगे। इन में बड़ा श्रम करना पडता है। नागपुर से इन का पौध मगाई है।"

ब्राह्मण बोले—"अजी, तुम तो बड़े बुद्धिमान हो। बागवानी का विद्या मे आप पारगत मालूम पडते हैं। य लीचा कहाँ से मँगाई ?"

ज्ञानमानी ने कहा—"महाराज! मैंने बडे श्रम से ये पहाड के नीचे द्रोणपुर से मगाई है। य बहुत बडा होता हैं, बडी मीठी होती हैं, इनमे जल हर समय चाहिये। जल के बिना य फल नहीं देतीं। आगे चलकर ब्राह्मण ने पूछा—"ये आम देशी हैं या कलमी ?"

ज्ञानमानी ने कहा—"महाराज! ये मैंने काशी से मगाकर लगाये हैं। इनमें बड़ा श्रम मैंने किया है। कटि के बराबर भूमि को खोदकर उसके ककर पत्थर निकालकर, पुरानी खाद मिला-

कर तब ये लगाये जाते हैं, नीचे बालू भी डालते हैं कि तर रहे, पानी शीघ्र सोख न जाय। पानी का घडा भर कर उसमें छेद करके रख देते हैं, कि शनै शनै पानी जड तक पहुँचता रहे, सदा ठंडक बनी रहे। ऐसे मैंने बहुत लगाये हैं।"

ब्राह्मण आगे बढने लगे। वे महाशय अब अपने आप ही आवेश मे आकर कहने लगे—"ये लाल गुलाब मैंने पूर्व से मँगा कर लगाये हैं, यह पीला गुलाब मैंने लगाया है, यह काला गुलाब मिलता ही नहीं, मैंने बड़े श्रम से मँगाया है। यह जुही मैंने लगाई है, यह बेला की लतर दूर से मँगाई है, यह चमेली मैंने लगाई है।" इतने मे ही चलते चलते वृद्ध ब्राह्मण उस स्थान में पहुँचे, जहाँ गौ मरी पडी थी। ब्राह्मण ने अपने वृद्धपने की सरलता के स्वर में पूछा—"इस गौ को किसने मार दिया है ?"

यह सुनकर वे ज्ञानमानी महाशय बोले—"हैं हैं महाराज! गौ को तो उसके प्रारब्ध ने मार दिया है "गुणा गुणेषु वर्तन्ते

यह सुनकर ब्राह्मण बडे उच्चस्वर से हँसने लगे और बोले—"पौधे तैंने लगाये, गुलाब तैंने मँगाये, आम तैंने लगाये और गौ मैंने मारी। आम के फल मीठे मीठे तू उडावे और गौ की हत्या को मेरे पास पठावे।" इतना कह कर भगवान् हत्या से बोले—'हत्या! तू लग जा इसके शरीर में।"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान्, की आज्ञा पाते ही हत्या उसके शरीर मे चिपट गई।" सो, ऋषियो! जो शुभ कर्म का कर्ता भोक्ता है, उसे किये हुए अशुभ कर्मों का भी फल भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये इन्द्र एक वर्ष तक ब्रह्महत्या को धारण किये रहे।"

इस पर शौनजी ने पूछा—"सूतजी ! फिर क्या हुआ ! देवेन्द्र की ब्रह्महत्या फिर कैसे छूटी ?"

यह सुनकर सूतजी बोले —" महाभाग ! जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्महत्या से निवृत्त हुए उस कथा को मैं आप को सुनाऊँगा। आप सब दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

ऊसर पृथिवी होय ब्रह्महत्या के लच्छन।
यज्ञादिक शुभ कर्म नष्ट होवें तहँ तत्छन ॥
गोंद तरुनि महँ होय करें जे याकूँ भच्छन।
राग सहित तिहि खायँ पापमय होवें तनमन ॥
दीखें मैले फेन जे, जल प्रवाह महँ जाइकें।
द्विज हत्या लखि पियो जल, बुदबुद फैन बचाइकें ॥

इन्द्र की ब्रह्महत्या का बटवारा

(३६१)

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ॥
शश्वत्कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।
द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ६ अ० ८,९ श्लो०)

छप्पय

चौथे दीन्हो भाग इन्द्रने नारिनिकूँ जब ।
मास मास महँ प्रकट होहि अस्पर्श होहिँ तब ॥
रजो धर्म महँ नित नारिकूँ नर जो जोहैं ।
धर्म कर्म तैं हीन पापमय सलजन सो हैं ॥
भूलि समागम अज्ञ नर, रजस्वला तैं करिहैं ।
हत्यारे सम पातकी, अवसि नरक महँ परिहैं ॥

संसार में सब पर सब वस्तुएँ नहीं होती । हमारे अनुकूल जो वस्तुएँ हैं, वे दूसरों पर हैं, जो हमारे अनुकूल नहीं हैं, वह

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इन्द्र के कहने पर ब्रह्महत्या का एक चौथाई भाग पृथिवी ने ग्रहण किया । उसे इन्द्र ने उसे वर दिया कि तुम्हारे गड्ढे अपने आप भर जायँगे । एक चौथाई भाग वृक्षों ने यह वर पाकर ग्रहण किया, कि कट जाने पर भी फिर उनकी शाखायें

हम पर हैं। इसीलिए ससार मे आदान प्रदान की प्रथा है। इस आदान प्रदान को हा व्यवहार या व्यापार कहते हैं। आत्मानन्द मे प्रवेश करने के अतिरिक्त जितने भी कार्य हैं सभी मे कुछ न कुछ वणिक् वृत्ति है, सभी व्यापार है। हमारे घर मे अन्न तो बहुत है, किन्तु चाना नमक, तेल तथा कपडे नहीं हैं। अत हम अन्न को वेचकर उसके बदले मे ये वस्तुयें लेते हैं। यद्यपि दूध बडी प्यारी वस्तु है, किन्तु हमे लत पड गई है धूम्रपान का अत दूध को वेचकर उसके बदले मे तमाल पत्र ले आते हैं। ससार मे कुछ परोपकारी पुरुष भी होते हैं, जो अपने शरीर पर कष्ट सहकर दूसरो के दुखो को दूर करके उन्हें सुखी बनाते हैं। दूसरों की विपत्तियों को स्वत ले लेते हैं। जो स्वेच्छा से परेच्छा से किसीको कुछ देता है, उसे उसका फल तो अवश्य हा मिलेगा। दिया हुआ व्यर्थ तो जायगा ही नहीं उसका फल तो मिलेगा ही। यह भी है तो व्यापार ही, किन्तु यह उच्चतम व्यापार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने तो मुझ से पूछा था, कि देवराज इन्द्र की ब्रह्महत्या कैसे छूटी, इसी प्रसग को मे आपको सुनाता हूँ। ब्रह्महत्या को लिये हुए अमराधिप इन्द्र तीनो लोकों मे इधर उधर घूमे। वे चाहते थे, किसी प्रकार मेरा इस ब्रह्महत्या से पिंड छूट जाय, किन्तु किये हुये पाप का फल तो भोगना ही पडेगा। इन्द्र सालभर तक मारे मारे फिरे। एक बार ऋषियों के समाज में देवेन्द्र ने दीन होकर प्रार्थना की, और हाथ जोडकर

पनप जायगी। निरतर सभोग करने की शक्ति बनी रहे, इस वरदान को पाकर एक चौथाई भाग ब्रह्महत्या को स्त्रियोंने ग्रहण किया। जिस द्रव्य में मिला दिया जाय वह बढ जाय या कूपादि से व्यय होने पर भी बढता रहे यह वरदान पाकर एक चतुर्थांश भाग जलने ग्रहण किया।

चे मुनियों से बोले—"मुनियों ! आप लोग कोई ऐसा उपाय बतावें जिससे मेरा ब्रह्महत्या छूट जाय ।"

इस पर ऋषियों ने कहा—"हे देवेन्द्र ! जिस प्रकार बड़ों का यश अजर अमर होता है, वैसे ही उनका अपयश भी सदा बना रहता है। उनसे कोई बुरा काम भी भूल मे बन जाता है, तो वह भी सदा क लिये स्थाई हो जाता है । अत आपकी यह ब्रह्महत्या तो अब स्थाई रहेगी। हाँ, एक उपाय है, यदि कोई स्वेच्छा से आपकी हत्या को लेले तो आपके शरीर से तो वह पृथक् हो जायगी, किन्तु उसके शरीर मे सदा स्थाई हो जायगी।"

इस पर दुखित होकर इन्द्र ने कहा—"स्वेच्छा से तो मेरीब्रह्म-हत्या को कौन ग्रहण कर सकता है ? ससार मे जान बूझकर सदा के लिये दुःख कौन अपने सिर पर लाद सकता है ?

इस पर मुनियों ने कहा—"महाराज ! आप ऐसीं बात न कहें। ससार मे बहुत से ऐसे परोपकारी सत्पुरुष पड़े हैं, जो दूसरों के सुख के लिए अपने बड़े से बड़े स्वार्थों का भी परित्याग कर देते हैं। आप जाकर तीनों लोकों में खोजिए।"

मुनियों की बात सुनकर देवेन्द्र तीनो लोकों में घूमते रहे। सबसे उन्होंने हत्या लेने को कहा। किन्तु जान बूझकर सदा के लिए ब्रह्महत्या को कौन ग्रहण करता। इन्द्र हताश होकर लौट आये। उन्होंने आकर ऋषियों से कहा—"ऋषियो ! आपने भी मुझे व्यर्थ घुमाया। आप ही सोचें ससार में जान बूझकर ब्रह्म हत्या जैसे पाप को कौन ग्रहण करेगा।"

इस पर मुनियों ने कहा—"हे स्वर्गाधिप अमरेश ! परोपकारियों के लिय कोई बात अशक्य नहीं कुछ भी असभव नहीं। आपका पाप बहुत बडा है। एक की सामर्थ नहीं जो इसे ग्रहण

कर सके। हम चार अत्यत ही परोपकारी व्यक्तियों का नाम बताते हैं। आप अपने पाप के चार भाग करके इन चारों में बाँट दें।"

यह सुनकर देवराज बोले—"हाँ भगवन्! बतावें उन चार परोपकारियों का नाम।

इस पर एक वृद्ध से बहुत अनुभवी ज्ञानी मुनि बोले—"हे अमराधिप! यह ठीक है ससार में अधिकाश लोग स्वार्थी ही हैं फिर भी कुछ परोपकारी प्राणी भी हैं। जैसे पृथिवी को ही देखिये। पृथिवी से बढकर परोपकारी ससार में कौन है। सभी प्राणियों को पृथिवी उत्पन्न करती है। सभी जीवों को पृथिवी ही धारण करती है, सभी के खाने को पृथिवी ही अन्न उत्पन्न करती है। इस पर मलमूत्र त्याग दो, कुछ नहा बोलती। चाहे जहाँ खोद दो, जोत दो बुरा न मानेगी। उलटे अन्न पानी ही निकालेगी पृथिवी से बढकर परोपकारी कौन है? तुम अपनी ब्रह्महत्या का चौथाई भाग पृथिवी को दो। वह लोक कल्याण के निमित्त उसे स्वीकार कर लेगी।"

पृथिवी समीप ही खडी थी। इन्द्र ने पूछा—"क्यों भूदेवि तुम मेरी ब्रह्महत्या का चतुर्थां श ग्रहण करोगी?

इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए पृथिवी ने कहा—"यदि आप तीनों लोकों के स्वामी निष्पाप हो जायँ तो लोक का हित होगा। मैं आपकी ब्रह्महत्या को सहर्ष अपने ऊपर धारण करूँगी"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह कहकर पृथिवी ने ब्रह्महत्या का चतुर्थां श अपने ऊपर ले लिया। पहिले सर्वत्र पृथिवी उर्वरा होती था कहीं भी ऊसर(बिना उपजाऊ भूमि) नहीं थी। उसी दिन से जहाँ तहाँ पृथिवी ऊसर हो गई। पृथिवी का

ऊसर होना यह ब्रह्महत्या का चिन्ह है, अत. ऊसर भूमि मे यज्ञ-याग आदि पुण्य कार्य कभी न करने चाहिये। इन्द्र पृथिवी की इस परोपकार वृत्ति से परम सन्तुष्ट हुए। इन्होंने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया—"कि तुम्हारे जहाँ कहीं, गढ्ढे आदि हो जायँगे, वे कालान्तर में स्वय ही भर जाया करेंगे।

अब एक भाग तो पृथिवी ने ग्रहण कर लिया अब तीन भाग और शेष रहे। इस पर इन्द्र ने मुनियों से कहा—"मुनियो यद्यपि ब्रह्महत्या का एक भाग तो चला गया, किन्तु फिर भी ३ भाग तो अभी शेष ही हैं, इन्हें किनको दूँ ?"

इस पर वे ही वृद्ध मुनि बोले—"देवराज ! पृथिवी की ही भाँति ये वृक्ष भी बड़े परोपकारी हैं। ये कितने सुन्दर सुन्दर फलों को उत्पन्न करते हैं। स्वय एक भी फल नहीं खाते, सब दूसरों को बाँट देते हैं। बुरी बुरी खाद से पेट भरके, कैसे कैसे सुन्दर पुष्पों को पैदा करते हैं। इनकी छाल भी काम मे आती है गुदा, जड़, फल, फूल, पत्ते सभी तो प्राणियों के उपभोग मे ही आने वाले हैं। सूखने पर ईंधन बनकर प्राणियों का भोजन परिपक्व करते हैं। घरों के बनाने में काम आते हैं, अनेक उपयोगी अस्त्र शस्त्र बर्तन आदि बनते हैं। जलकर कोयले होते हैं वे भी काम मे आते हैं, कोयलों की राख होती है उससे भी बहुत से अनेक काम निकलते हैं। खाद बनती है, पत्तियों को पशु खाते हैं, जिनसे दूध बनता है जो प्राणियों का जीवन है। मरने पर इन्हीं ईंधन से ही वर्णाश्रमी फूँके जाते हैं। कहाँ तक कहें वृक्ष की एक एक डाली एक एक पत्ता सदा परोपकार में ही काम आती है। वृक्षों से बढ़कर परोपकारी और कौन होगा। यह भाग आप इन्हें दे दो।"

इन्द्र ने वृक्षों के अधिष्ठातृ देवों से कहा—"क्यों भाई तुम

लोग क्या कहते हो ? मेरी ब्रह्महत्या को स्वीकार करोगे ?

वृक्षों ने कहा—"भगवन् ! हम तो जड हैं। आपतो तीनों लोकों के स्वामी हैं आपकी विशुद्धि से तीनों लोक विशुद्धि हो जायँगे। अत हमे आपकी तथा ऋषियों की आज्ञा सहर्ष स्वीकार है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृक्षों के ऐसा कहने पर इन्द्र ने अपनी हत्या का एक भाग वृक्षों को दे दिया। पहले वृक्षों में निराम गोंद नहीं होता था। उसी दिन से वृक्षों मे गोंद होने लगा यह गोंद ही ब्रह्महत्या का वृक्षों में चिन्ह है अत बुद्धिमान् पुरुषों को भूलकर भी गोंद न खाना चाहिये। औषधि आदिके समय विवशता ही हो यह दूसरी बात है।"

जब वृक्षाने ब्रह्महत्या का चतुर्थां श ग्रहण कर लिया तो देवेन्द्र ने अत्यत ही प्रसन्न होकर वरदान दिया कि तुम्हारी डाल कट जाने पर भी फिर पनप जाया करेगी। कोई काट भी देगा तो जड में से फिर तुम पैदा हो जाया करोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जैसे मनुष्य का हाथ पैर कोई भी अग काट दो तो वह फिर निकलता नहीं यही दशा वृक्षों की थी, जिस डाली को काट लेते थे वह फिर नहीं निकलती थी जब से देवराज इन्द्र ने वरदान दिया तब से कटी हुई डालें फिर से निकलने लगीं।

आधी ब्रह्महत्या तो बँट गयी, आधी के लिये देवेन्द्र पुनः चिन्तित हुआ। उन्होंने मुनियों से पूछा—"भगवन् ! इस आधी के लिये स्थान और बताइये। दो कोई परोपकारी सेवावृत्त वाले और बतायें। इस पर वे ही वृद्ध मुनि बोले—"देवेन्द्र ! जल से बढ़कर ससार में परोपकारी कौन हो सकता है जल को जीवों का जीवन कहा गया है। प्राणी अन्न के बिना तो

कुछ काल जीवित भी रह सकते हैं किन्तु जल के बिना जीवन दुर्लभ है। सब को पवित्र करने वाला जल ही है। जल में स्नान करने से मनुष्य पवित्र होता है। जल पर ही सृष्टि स्थित है। यह पृथिवी नौका की भाँति जल पर ही तैर रहा है। जो पृथिवी सब को धारण करने के कारण धरा कहलाती है उस पृथवी को भी धारण करने वाले जलनारायण हैं अत एक चौथाई भाग आप जलको दे सकते हैं।

इन्द्रने समाप ही उपस्थित जल के अधिष्ठातृ देव से पूछा— "क्यों जी तुम मेरी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश ग्रहणकर सकते हो ?"

इस पर जलने कहा—"महाराज ! मैं तो अत्यन्त ही पवित्र माना जाता हूँ किन्तु परोपकारके निमित्त मैं आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करता हूँ।"

जलकी स्वीकृति पाकर देवेन्द्र ने एक चौथाई ब्रह्महत्या जलको देदी। जलमें जो ये फैन बुद्बुद् बहते हैं अधिकतर वर्षात में बहुत आते हैं यह ब्रह्महत्या का ही स्वरूप है। अत जल पीते समय फैन और बुल बुलों को बचाकर ही पानी पीना चाहिए।

जलपर प्रसन्न होकर शचीपति शतक्रतुने उसे वरदान दिया कि तुम्हारी वृद्धि हो जाय। वृद्धि इस प्रकार जैसे पावभर दूध है तीन पाव पानी मिला, दूध सेर भर हो गया। जिस वस्तु में भी जल मिला दिया जाय वही बढ जाय। अथवा कुएँ आदि से जितना ही जल निकाला जाय, उतना ही बढ जाया करे।"

अब एक चौथाई भाग ब्रह्महत्या का और रहा, इन्द्रने पूछा— "भगवन् ! इस एक चौथाई को तो किसी परोपकारी पुरुष को बताइये, जो निरन्तर सेवा में ही सलग्न रहता हो, सेवा करना ही जिसके जीवन का चरम लक्ष्य हो ?

देवेन्द्रकी बात सुनकर वे अनुभवी वृद्ध मुनि बोले—"हे शचीपति! पुरुष तो स्वार्थी प्राणी है। ससार मे स्त्रियों से बढ़कर परोपकारी कोई भी न मिलेगा। यह सम्पूर्ण सृष्टि स्त्रियों के ही कारण है। स्त्री न हो तो ससार की वृद्धि न हो। इसीलिये स्त्री को लोकमाता कहा गया है। अत्यन्त स्वार्थी और रूखा मनुष्य भी स्त्रियों को इतना चाहता है, वह इसीलिये कि वे सम्पूर्ण सुखों की देने वाली है। ससार में जितने भी इन्द्रियसुख हैं वे कामिनी के कमनीय अङ्ग मे सन्निहित हैं। स्त्रियों का जीवन आदि से अन्त तक परोपकारमय ही है। पैदा होते ही वे परोपकार मे प्रवृत्त हो जाती है। जहाँ तनिक सयानी हुई कि माता के काम मे हाथ बँटाने लगती है। माँ भोजन बनाते समय लड़की से ही कहती है—'बेटी, चिमटा ला, करछुल को उठा ला, साक अमनिया कर दे, मसाला पीस ले इत्यादि इत्यादि। जहाँ और बड़ी हुई कि भोजन भी बनाने लगती है। उसके जितने छोटो बहिन भाई होते हैं, सबको लडकी ही खिलाती है, गोद मे लेकर घुमाती है। घर भरके लोग लड़की पर ही आज्ञा चलाते हैं। बूढ़े लोग आकर कहते हैं—"बेटी अपनी माँ से यह कह, वह कह। पानी ला, हाथ धुला। विचारी चुपचाप सबका काम करती है। इस प्रकार बालकपनमें वह अपने घरभरकी सेवा करती रहती है। बड़ी होने पर वह जन्म के घर को सदा के लिये छोड़ जाती है। एक अपरिचित पुरुष के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती है। घर घर में जाकर भी सेवा के द्वारा घर के सभी लोगों को वश मे करती है। सास है, ससुर है, देवर जेठ सभी का काम करती है। अपना सब सुख और शरीर अर्पण करके पति को प्रसन्नता प्राप्त कराती है। गर्भ धारण करती है। ९ महीने बच्चे को पेट में लिये घूमती है। उसके पीछे नमक

नहीं खाती, मिरच नहीं खाती, शरीर पीला पड़ जाता है जी मिचलाता सा रहता है। फिर प्रसव की अत्यन्त असह्य पीड़ा को सहकर बच्चे को उत्पन्न करती है। उसके मुख को देखकर सब पीड़ाओं को भूल जाती है। प्राणों की भाँति उसका पालन करती है। रात्रि दिन उसी की चिन्ता में लगी रहती है। उसके मल मूत्र को साफ करती है। बच्चा जब चाहता है मल मूत्र करके उसके कपड़ों को अपवित्र कर देता है, वह न झुँझलाती है न इस अपराध पर बच्चे को मारती है। उसे साथ में लेकर सोती है। सोते समय उसने मूत्र कर दिया तो गीले में स्वयं सो जाती है उसे सूखे में सुलाती है। एक के पश्चात् दूसरा दूसरे के पश्चात् तीसरा बच्चा। इस प्रकार बच्चे बढ़ते जाते हैं सभी का समान भाव से बिना मन मैला किये पालन करती है। बड़े हो जाने पर घरका द्रव्य व्यय करके उनका विवाह करके प्रसन्न होती है। भोजन-वस्त्र सभी का प्रबन्ध करती है। उसे रात्रि दिन दूसरों की ही चिन्ता रहती है। नारी का जीवन ही दूसरों के सुख के लिये है। स्त्री कभी बेकार न बैठेगी। वह कुछ न कुछ दूसरों के सुख के लिये काम करती ही रहेगी। कपड़ा सीना, चरखा कातना, बेल बूटे बनाना आदि छोटे से लेकर बड़े से बड़े कार्यों को करने में उसे आनन्द आता है। कार्य करने का उसका सहज स्वभाव है। कथा में भी बैठेंगी, तो वहाँ भी भगवान् के लिये फूलबत्ती बनाना, हार गूँथना, भगवान् के नैवेद्य की वस्तुओं को स्वच्छ करना आदि कामों को हाथों से करती रहेंगी। कानों से भगवान की कथायें सुनती रहेंगी। स्त्रीने जीवन में एकही मन्त्र सीखा है परोपकार। यह संसार स्त्रियों द्वारा ही सुचारु रीति से चल रहा है। नहीं तो यह मनुष्य नामक जन्तु तो बड़ा क्रूर अत्यन्त ही शुष्क प्रकृति

का नीरस प्राणी है। इसमे सरसता का सचार परोपकारिणी नारी ही करती है। स्त्रियो मे पुरुषों की अपेक्षा सेवा भाव, लज्जा, सौन्दर्य सुकुमारता, कोमलता, लावण्य, आकर्षण, मधुरता सरसता आदि सद्गुण अत्यधिक होते हैं। उनसे लक्ष्मी देवी रूठ जाती है। जिस घरमे स्त्रियो का आदर न होगा, उस घरमे चिरकाल तक लक्ष्मी का निवास हो ही नहीं सकता। अपनी जाति का सभीको पक्षपात होता है। लक्ष्मी देवी नारी हैं, इसीलिए नारियों के प्रति उनका अधिक पक्षपात है। हे अमरेश ! आपने देखा होगा, बडे बडे सम्पन्न घरों में स्त्रियों का कितना आदर होता है। पुरुष बिना स्त्रियो के पूछे कुछ करते नहीं। धनिकों के घरों मे प्राय समस्त ताली कुन्जी घर वाली पर ही रहती है। तभी वहाँ लक्ष्मी टिकती हैं। जो दरिद्र बात बात पर स्त्रियों को डाटते डपटते हैं मारते पीटते हैं। उनका आदर नहीं करते पैसे पैसे का हिसाब लेते हैं, उन्हे कभी पेट भर अन्न नहीं मिल सकता। पुरुप घरसे बाहर का रुपय कमाने का स्वामी है। स्त्री घर की स्वामिनी है। इसलिये उसे गृहिणी कहा है। वह अपने घरको गौके गोबर से लीप कर लक्ष्मीजी को बुलाती रहती है, क्योंकि गौके गोबर में लक्ष्मीजी का निवास है। लक्ष्मीजी सदा बनी ठनी रहती हैं, उन्हें मैला कुचेलापन प्रिय नहीं। पुराण पुरुष पुरुषोत्तम की प्रियतमा ठहरीं इसलिये वे स्वच्छता का बडा आदर करती हैं। जो स्त्री अपने अगो को वस्त्रों को घर को, स्वच्छ रखती है और पुरुषों द्वारा सत्कृत होकर सदा हँसती रहती है उससे लक्ष्मी जी भयला जोड़ लेती हैं। उसकी भायला सहेली बनके उसके समीप रहती हैं। स्त्रियों का अपमान करना मानों साक्षात् नारायण की महरारू लक्ष्मीजी का अपमान करना है। ससार

में स्त्रियों से बढकर परोपकारी कोई भी प्राणी नहीं अत तुम अपनी ब्रह्महत्या का चौथाई पाप इन्हे दे दो।"

अमरेश ! शचीपति तो स्त्रियों की ऐसी महिमा सुनकर डरगये और डरते २ स्त्रियों से पूछने लगे—"क्या आप लोग मेरी इस ब्रह्महत्या को स्वीकार करेंगी।"

स्त्रियों ने कहा—"देवेन्द्र ! हमारा तो जीवन ही दूसरे के लिये है। यदि आप त्रिलोकीनाथ का भी हमारे द्वारा कोई उपकार हो जाय, तो हमें ब्रह्महत्या स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं।"

यह सुनकर इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या का चतुर्थांश स्त्रियों को दे दिया। स्त्रियों को जो प्रत्येक महीने मासिक धर्म होता है, यह उसी ब्रह्महत्या का चिह्न है। अत उस समय रजस्वला स्त्री को न स्नान करना चाहिय, न घरकी किसी सामग्री का स्पर्श करना चाहिय, न किसी के सामने ही होना चाहिये। पुरुषों का भी धर्म है, कि रजस्वला स्त्री के सपर्क से सदा बचा रहे। जो उनसे सपर्क रखते हैं उन लोगों को भी ब्रह्महत्या के ससर्गी का सा पाप लगता है।

स्त्रियो के इस त्याग को देखकर इन्द्र ने उन्हें वरदान दिया की तुममें निरन्तर सम्भोग करने की शक्ति बनी रहेगी। उसके लिए कोई समय निर्दिष्ट न रहेगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जैसे पशुओं मे गर्भाधान के समय ही ऋतु आने पर एक बार काम वासना उत्पन्न होता है। गर्भिणी हो जाने पर पशु माताओं मे फिर काम वासना नहीं उठती। इससे पहिले स्त्रियों मे भी यही बात था। साल में एक बार ही इच्छा होती थी। जब से देवराज इन्द्र ने वरदान

दिया तब से इनमें निरन्तर कामवासना रहने लगी। जब चाहें पति समागम कर सकती हैं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! स्त्रियों के लिये यह वरदान हुआ या शाप हुआ?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! अब आपको क्या बताऊँ।

इस प्रश्न को आप न पूछें तो ही अच्छा है। यहाँ ऋषियों की मंडली में कैसे समझाऊँ इस विषय को। कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो स्पष्ट समझाई जा सकती हैं। कुछ संकेत द्वारा समझाई जाती हैं, महाराज! कथा कहने वाले की वृत्ति बड़ी बुरी है। इसमें भला बुरा योग्य अयोग्य सब कुछ समझाना पड़ता है। देवराज इन्द्र ने स्त्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त उनके मनोनुकूल ही वरदान दिया। इस विषय में मैं आप को एक अत्यन्त ही प्राचीन पौराणिक दृष्टान्त सुनाये देता हूँ। आप सब बुद्धिमान् हैं, बुद्धिमानों को संकेत ही पर्याप्त होता है। उसी के द्वारा अनुमान करलें।

प्राचीन काल में एक राजा थे। उनके १०० पुत्र हुए। एक बार वे बाहर गये। इन्द्र के शापसे वे स्त्री बन गये। एक पुरुष के साथ उनका विवाह हो गया। अब राजा से रानी बन गये। स्त्री शरीर से भी इनके १०० लड़के हुए। इन्द्र इनके समीप आये और आकर बोले—"देखो, तुम्हारे १०० ही लड़के रहेंगे। मैं तुम्हें वरदान देकर फिर पुरुष बना सकता हूँ। तुम बताओ ये जो राजा रूप में जो तुम्हारे १०० पुत्र हैं उन्हें छोड़ दूँ या रानी बनकर जो तुमने १०० पुत्र पैदा किये हैं उन्हें छोड़ दूँ। जिन्हें कहो वे बच जायँगे शेष मर जायँगे। और यह भी

बताओ तुम पुरुष होना चाहते या स्त्री ही बने रहना चाहते हो।"

इसपर उस रानी बने हुये राजा ने कहा—"देवेन्द्र! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो मेरे उन्हीं पुत्रों को चिरजीवी बना दीजिये जो मैंने स्त्री शरीर से उत्पन्न किये हैं।"

इस पर आश्चर्य के साथ इन्द्रदेव ने पूछा—"ऐसा वरदान तुम क्यों माँगते हो।

इस पर वह रानी बनी राजा बोले—"महाराज! पिता की अपेक्षा माता का पुत्रों में अधिक स्नेह होता है। पुत्रों का जितना मोह माता को होता है उतना पिता को नहीं होता। इसीलिये मैं मातृ रूपमें उत्पन्न किये हुए पुत्रों को पहिले पुत्रों की अपेक्षा अधिक प्यार करती हूँ।"

इस पर फिर इन्द्र ने पूछा—"अच्छा तुम पुरुष होना चाहते हो या स्त्री ही बने रहना प्रिय है।"

अत्यन्त लजाते हुये उसने कहा—"अब देवेन्द्र सबके सामने मेरी हँसी क्यों कराते हैं। ऐसे ही गोल माल बात को रहने दो। मैं जहाँ हूँ वहीं ठीक हूँ।"

आश्चर्य के साथ इन्द्र ने पूछा—"अरे, तुम चूड़ी पहिन कर नाक छिदा कर पुरुष की अपेक्षा स्त्री बने रहना क्यों चाहते हो? स्त्री शरीर में ऐसा क्या सुख है?"

अत्यन्त लजाते हुये उसने नख से पृथिवी को कुरेदते हुये धीरे से कहा—"अब आप बिना स्पष्ट कराये मानोगे थोड़े ही। बात यह है कि पति पत्नी दोनों में पति की अपेक्षा पत्नी को रति सुख में अत्यधिक आनन्दानुभव होता है। अतः अब मैं दाढ़ी मूछ लगाकर पुरुष बनना नहीं चाहती।" सो, मुनियों, गोविन्दाय

नमो नमः तुम्हारा रामजी भला करे, अब आप दूसरा प्रश्न कीजिये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! जब विश्व रूप को मार दिया, तो उनके पिता महामुनि त्वष्टा को तो बड़ा क्रोध हुआ होगा। उन्होंने देवताओं से बदला लेने का कुछ प्रयत्न नहीं किया। बात आगे बढ़ी कि यों ही गोल माल होकर समाप्त हो गई?"

इसपर सूतजी बोले—"महाराज! जो असमर्थ पुरुष होते हैं, वे ही मनमसोस कर चुपचाप बैठ जाते हैं। समर्थ पुरुष तो बिना बदला लिये छोड़ते नहीं। कोई कोई ब्रह्मज्ञानी इसके अपवाद भी होते हैं। किन्तु साधारणतया समर्थ पुरुष इस प्रकार के घोर अपमान को सहन नहीं कर सकते। विश्व रूपजी के वध के कारण तो बड़ा भारी काड हुआ। देवताओं और असुरों मे बहुत काल पर्यन्त बडा घोर ऐतिहासिक महायुद्ध हुआ। उसका सक्षिप्त वर्णन मैं आपको सुनाऊँगा। आप इसे सावधान होकर श्रवण करे।

छप्पय

नारि वृक्ष जल भूमि पाइ वरदान सिहाये।
इन्द्र भये निष्पाप मुदित है स्वर्ग सिधाये॥
द्विज हत्या तो गई शत्रुता सिर पै आई।
विश्वरूप पितु कुपित भये सुन इन्द्र ढिठाई॥
त्वष्टा मन निश्चय करयो, इन्द्र नीचता हरुँगो।
जो मारे जा इन्द्रकूँ, अस नर पैदा करुँगो॥

त्वष्टा द्वारा वृत्रासुर की उत्पत्ति

(३६७)

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरञ्जहि विद्विषम् ॥
अथान्वाहार्य पचनादुत्थितो घोरदर्शनः।
कृतान्त इव लोकाना युगान्तसमये यथा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ११ १२ श्लो०)

छप्पय

ऐसो मन महँ सोचि हवन मुनिवर ने कीन्हों।
'इन्द्र शत्रु वढिजाउ, मन्त्र पढ़िकें हवि दीन्हों ॥
मंत्र शक्ति अति अमित तुरत इक उपज्यो प्रानी।
महा भयंकर वृत्र वली अतिशय अभिमानी ॥
लाल मूँछ दाढ़ी अरुन, वरन नयन प्रलयाग्नि सम।
अजन परवत के सरिस, सुररिपु तेजस्वी परम ॥

संसार में कष्ट ही कष्ट है, पग पग पर कष्ट हैं। बाल्य-काल से वृद्धावस्था तक कष्ट ही कष्ट हैं, सुख भी हैं, किन्तु वे

---

* शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् महामुनि त्वष्टा ने 'जब अपने पुत्रविश्वरूप के मारे जाने का समाचार, सुना तब इन्द्र शत्रु को उत्पन्न करने के निमित्त 'हे इन्द्र शत्रो! तुम वृद्धि को प्राप्त हो कर शीघ्र ही अपने शत्रु का संहार करो, इस संकल्प से अग्निमें हवन किया। हवन

क्षणिक रसना उपस्थ आदि के सुख अत्यन्त ही आसक्ति बढ़ाने वाले, गृह जाल मे फँसने वाले, स्वर्गनरक पहुँचाने वाले हैं, किन्तु उनका सुख स्थाई नहीं। उपभोग कर लेने पर ये फीके पड जाते हैं और अधिक बढजाते हैं वासना की वृद्धि करते हैं परिणाम में सुखद न हो कर दुखदही प्रतीत होते हैं। जिस सामग्री को हम सुख देने वाली समझते हैं, अन्त मे वही दुख का कारण बन जाती है। वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, स्वय कर्म करने की शक्ति नहीं रहती, बल घट जाता है, तृष्णा बढ जाती है। विषयों के भोगने की शक्ति रहती नहीं, किन्तु उनमें आसक्ति बनी ही रहती है अत वृद्धावस्था को अधिक कष्टकारिणी बताया। वृद्धावस्था से भी कष्ट प्रद है, परिवार वाला गृहस्थी होने पर धनहीन होकर जीवन यापन करना निर्धन का कितना कष्ट होता है। पग पग पर उसे कितने कितने अपमान तिरस्कार, दु ख आदि सहने पडते हैं, इसे बिना निर्धन हुए कोई अनुभव कर ही नहीं सकते। इन सब कष्टो से बढ़कर है पुत्र शोक। जिसका इकलौता पुत्र हो, योग्य हो होनहार हो, उसे कोई अन्याय से मार दे, तो पिता कितना भी ज्ञानी ध्यानी क्यों न हो मारने वाले के प्रति उसे महान् द्वेष होता है और शक्ति भर बदला लेने का अपने पुत्रहन्ता से बदला लेने का प्रयत्न करता है, क्यों कि पुत्र तो अपना ही आत्मा है। आत्मघाती का वध करना पाप नहीं, वह तो कर्तव्य है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब महामुनि त्वष्टा

करते ही उसी चरु अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि से एक घोर दारुण विकराल काल के समान प्रलय काल में लोकों का संहार करने वाले काल के समान विकराल पुरुष उत्पन्न हुआ।

ने इन्द्र द्वारा अपने पुत्र विश्वरूप के मारे जाने का वृत्त सुना तो पुत्र शोक के कारण वे अत्यंत ही व्याकुल हो गये, उनके रोम-रोम में क्रोध व्याप्त हो गया। मुनिवर क्रोध में भरकर सोचने लगे—"यह इन्द्र कितना नीच है, पहिले तो मेरे पुत्र को फुसला कर ले गया, उसे गुरु बनाया, आचार्य के सिंहासन पर बिठाया, उपाध्याय का आदरणीय कार्य कराया, नारायण कवच की दीक्षा ली, असुरों पर विजय प्राप्त की और अन्त में उसे असावधाना वस्था में मार डाला। यह तो विश्वासघात है, प्रत्यक्ष अन्याय है, आततायीपने का कार्य है। आततायी सदा ही वधार्हण माना गया है, अतः मैं इस दुष्ट को इसका प्रतिफल चखाऊँगा, इसे भी विश्वरूप के समीप पठाऊँगा, मृत्यु के साथ इसका भी साक्षात्कार कराऊँगा। इसे अपने बल पौरुष का बड़ा अभिमान है, यह समझता है, मुझे कोई जीत नहीं सकता। मैं एक ऐसा बली पुत्र उत्पन्न करूँगा, जो इस इन्द्र के दाँत खट्टे करदे, इसकी सब चौकड़ी भुलादे और इसे बिना प्रवेशपत्र के तत्क्षण यम सदन पठादे। इस प्रकार क्रोध करके मुनिवर ने अपना हवन करने का स्रुवा उठाया। उन्होंने एक प्रकार की विशेष अग्नि उत्पन्न की जैसे गार्हपत्य, प्राजापत्य और दक्षिणाग्नि तीन अग्नियाँ होती हैं, उन्होंने इस कार्य के लिये एक "अन्वाहार्य पचन" नामक विशिष्ट अग्नि को उत्पन्न करके उसमें हवन किया। उन्होंने इन्द्र के मारने वाले प्रबल भयंकर शत्रु के उत्पन्न करने के सङ्कल्प से मन्त्र पढ़ कर विधि पूर्वक हवि दी।

मन्त्रों का प्रभाव अमोघ होता है, उपासना के प्रभाव से मुनियों के सङ्कल्प, वचन और कार्य अव्यर्थ होते हैं। विधिविधान पूर्वक वे जो कुछ भी करना चाहते हैं वह तत्क्षण हो जाता है। मुनिवर त्वष्टा के आहुति देते ही उस अन्वाहार्य पचन अग्नि से

एक अत्यत भयकर विशालकाय पुरुष उत्पन्न हुआ। वह देखने में बड़ा ही भयङ्कर था, उसके सम्पूर्ण शरीर का वर्ण काले रग का था। वह सन्ध्याकालीन मेघमाला के समान अजन के पर्वत पर मानों सूर्य की किरणें पड़ कर चमक रही हों, इस प्रकार तेज से चमचमा रहा था। उसके बाल कड़े, ऊपर उठे, तपाये ताँबे के समान लाल लाल और भयकर थे। दाढ़ी मूछें बडी बडी लम्बी कई कोसों तक फैली हुई थी। वह उसके ओठों पर ऐसी ही लगती थीं मानों अजन के दो पर्वत शिखरों पर खड़े काले वृक्षों पर अमरबेल फैल रहा हो। उसकी भुजायें लम्बी-लम्बी और स्वर्ग को छूने वाले साखू के लम्बे लम्बे वृक्षों के समान थे। उसके दोनों नेत्र मध्याह्न काल के सूर्य के समान उग्र और अरुण वर्ण के थे। वे उसी प्रकार चमक रहे थे मानों उदयाचल में दो बाल सूर्य चमक रहे हों। उसकी नासिका पर्वत कदराके समान भयकर थी। उसकी दाढ़े तीक्ष्ण भयानक और कुदाल के समान लम्बी तथा डरावनी थीं। मुख अधकूप के समान भयकर और चौडा था, उसमें लाललाल जिह्वा उसी प्रकार लपलपा रही थी मानों कोई लाल वर्ण का भयकर चचल अजगर अधेरे कूए को व्याप्त करके बाहर फनको घुमा रहा हो। गिरिगुहा के समान गभीर मुख से वह मानो सम्पूर्ण आकाश को पी जाना चाहता है तथा आकाश मे उदित नक्षत्रों को अपनी भयकर लपलपाती जिह्वा से चाट जाना चाहता है। जीभ से ओठों को चाटते समय जो उसकी विकराल विशाल

दाढ़ें खुलती और बन्द होती थी, उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानों यह तीनों लोकों को निगल जाने का उपक्रम कर रहा है। उसके बढ़ने की कोई सीमा नहीं थी, क्षण क्षण में वह चढ़ता था। चौड़ाई में बारह सौ कोस हो गया। बढ़ते बढ़ते वह आकाश में दो हजार कोस तक लम्बा बढ़ गया। उसेपुरुष कहना, जीव जन्तु बताना पाप है। वह तो सर्वलोक सहारक प्रलय-कालिक विकराल काल के समान दुर्धर्ष भयकर और अप्रतिम था। वह ऐसा लगता था मानों सुमेरु पर किसी ने कालिख पोत दी हो। वह बार बार अपने भयकर त्रिशूल को घुमाकर जब जमुहाई लेता था, तब उसके विकराल भयकर रूपको देखकर सब लोग अत्यत भयभीत हो जाते और दशों दिशाओं में प्राणों के मोह से भागने लगते। वह महातमोगुणी महापापी, परम दारुण दैत्य इतना बढा कि उसने अपने भयकर शरीर से तीनों लोकों को आवृत कर लिया ढक लिया, इसलिए यह "वृत" इस नाम से विख्यात हुआ।

उत्पन्न होते ही उसने अपने पिता त्वष्टा से पूछा—"पिता जी! मुझे आपने क्यों उत्पन्न किया है, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ?"

यह सुनकर क्रोध में भरकर महामुनि त्वष्टा ने कहा—"पुत्र! सुराधिप अधम इन्द्र ने तेरे भाई को अकारण ही मार डाला है, अत. तू जाकर उस इन्द्र को मार कर अपने भाई का बदला ले। स्वर्ग को इन्द्र से हीन कर दे।"

अपने पिता की आज्ञा पाकर यह भयकर दैत्य वहाँ से चला। उसके साथ सभी असुर हो गये। असुरों ने उसे अपना अग्रणी मान लिया। असुरों के आचार्य शुक्र ने उसका स्वस्त्ययन किया, उसकी विजय के लिये स्तोत्रों का पाठ किया और उसे विजय का वरदान दिया। इस प्रकार असुरों द्वारा सम्मानित और पूजित होकर परमपराक्रमी वृत्रासुर घोर गर्जना करता हुआ, अपने पैरों के प्रहार से पृथवी को कँपाता हुआ ऐसा चला मानों अपने त्रिशूल पर पृथ्वी और आकाश को उठाकर नृत्य कर रहा हो। उसके पैरों में बँधे नूपुर छुम्म छुम्म बज रहे थे, मानो किसी चलते फिरते पहाड में सगीत हो रहा हो। आगे आगे वह देवताओं का कटक महापराक्रमी असुर चल रहा था और पीछे पीछे सभी दैत्य दानव उसका जयजयकार करते हुए चल रहे थे।

देवताओं ने जब यह बात सुनी, तब तो उनकी सिटिल्ली भूल गई। वे तो उसके विकराल रूप को ही देखकर भयभीत हो गय, किन्तु करते क्या? युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। उससे भागकर कोई कहाँ जा सकता था। उसने तीनों लोकों को त्रिविक्रम वामन भगवान् के समान आवृत कर रखा था। देवता घबडा तो गये किन्तु युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई गति न देखकर वे भी सब मिलकर सघ के सहित उस पर आक्रमण करने के निमित्त उद्यत हो गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विश्वरूप के बध के अनन्तर फिर वृत्रासुर और सुरों का युद्ध आरम्भ हुआ।

छप्पय

छिन छिन महँ वह बढ़े लोक तीनों ढकि लीन्हें।
देवमारतैं बिकल असुर सब निर्भय कीन्हें॥
पूछे पितुतैं वृत्र तात! हौं करूँ कहा अब।
मोकूँ कछु न अशक्य, काजहौं प्रभो करूँ सब॥
त्वष्टा मुनि सुनि इन्द्र को, कह्यो वृत्त सब वृत्र तैं।
इन्द्र मारि देवनि करो, रहित चमर अरु छत्र तैं॥

वृत्र की विजय और देवताओं की पराजय

(३६३)

त निजघ्नुरभिद्रुत्य स गणा विबुधर्षभाः
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥*
(श्रीभा० ६, स्क० ९, अ० १९, २० श्लो०

छप्पय

वृत्रासुर सुनि पिता वचन सब असुर बुलाये ।
शुक्र पुरोहित आइ विजय के कृत्य कराये ॥
मदमाते सब असुर चले रणशस्त्र घुमावें ॥
गर्जन तर्जन करत वृत्र बल समुझि सिहावें ।
आवत देख्यो असुर दल, सब शस्त्रनि लै भिर गये ।
वृत्र पराक्रम निरखि कें, विस्मित सब सुर गन भये ॥

जहाँ एक ओर धर्म हो और दूसरी ओर दम्भ मिश्रित हो, तो धर्म की ही विजय होती है। किन्तु जहाँ एक बलवान् अधर्म हो और दूसरी ओर निर्बल धर्म हो, तो

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब वृत्र देवताओं से युद्ध गया। तब सम्पूर्ण देवगण उस पर मिलकर एक साथ आक्रमण हुए अपने दिव्य अस्त्र शस्त्रों से उसपर प्रहार करने लगे। किन्तु

बलवान अधम की ही विजय होती है। घोर तमोगुण में और निर्बल सतोगुण में घोर तम ही जीत जाता है। देवता जब तक श्रीहरि को सर्वस्व समझ कर धर्म करते रहते हैं, तब तक तो वे स्वर्ग सुख के अधिकारी माने जाते हैं, जहाँ वे अपने को कर्ता धर्ता मानकर मनमाना करने लगते हैं, दम्भ छल कपट का आश्रय लेकर ऐश्वर्य सुखोपभोग करने को व्यग्र हो जाते हैं, वहाँ असुर उन्हें जीत लेते हैं। क्योंकि असुर देवताओं से शारीरिक बल में छल, कपट, दम्भ माया और अस्त्र शस्त्र विद्या में बढ़ चढ़ कर होते हैं। असुरों से देवताओं में इतनी ही विशेषता है, कि देवता अपना सर्वस्व, रक्षक श्रीहरि को ही समझते हैं और असुर अपने पुरुषार्थ द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। पुरुषार्थ से भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, किन्तु वह संशय ग्रस्त और अस्थाई मानी जाती है। हरिस्मृति तो सर्व विपदाओं को विमोक्षण करने वाली होती है, इसमें संदेह नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब युद्ध के लिये वृत्रासुर को देवताओं ने उद्यत देखा, तो वे शूल, पट्टिश, तोमर, खड्ग, भुसुंडी धनुष बाण आदि आयुध लेकर वृत्र और उसके अनुयायियों के ऊपर दौड़े। समस्त देवताओं ने मिलकर वृत्र को घेर लिया। वे उस पर अपने तीखे तीखे अमोघ अस्त्रों को चलाने लगे किन्तु वे सब के सब व्यर्थ हो जाते। बाण उसके शरीर में लगकर उसी प्रकार टूट जाते थे, जैसे पाषाण खण्ड में मारने पर खड्ग टूट जाता है। बड़े बड़े दिव्य अस्त्र उसके

उन सब को निगल जाता था। इस बात को देखकर सभी देवता बड़े चकित हुए। वे तेजोहीन और उदास होकर एकाग्रचित्त से अन्त करण में स्थित आदि पुरुष श्रीहरि की स्तुति करने लगे।

शरीर में घुमने की तो कौन कहे, तनिक सा घाव भी नहीं
सकते थे। जिस प्रकार पत्थर का पर्वत घनघोर वर्षा को
है, जिस प्रकार सुदृढ लम्बी लम्बी जडों वाला वृक्ष आँधी
वेग को सहता है, जैसे क्षमावान् पुरुष दुष्टों के कटु वचनों
सहता है, जैसे हाथी मच्छरों के डकों को सहता है, उसी प्रक
वह देवताओं के अस्त्र शस्त्रों को सहने लगा। जब बडे बडे अस्त्र
से उसकी त्वचा में तनिक सी खुरसट भी न लगी, तब तो देव
बडे घबड़ाये। वह बिना विरोध किये सुमेरु के समान खडा ख
हँस रहा था। देवता चारों ओर से एक साथ ही उस
ऊपर आक्रमण करके दिव्य अस्त्र शस्त्रों का प्रहार कर रहे
अब तो उसे एक हँसी सूझी और खिल खिलाकर हँस
हुआ बोला—"अरे, देवताओं! मैंने तो तुम लोगों की ब
प्रशंसा सुनी था, कि तुम यों बली हो त्यों बली हो, किन्तु तु
बली फली कुछ भी नहीं। रणविद्या में सर्वथा कोरे ही हो
मैं समझता था, तुम मुझे संग्राम में सन्तुष्ट कर सकोगे, कि
सन्तुष्ट करने की बात तो पृथक् रही, तुम मेरी त्वचा तनि
भी नहीं काट सके। मेरे शरीर से एक बिन्दु रक्त भी न
निकाल सके।"

यह सुनकर लज्जित हुए देवता कहने लगे—"हे असुरराज
हमारे तो सभी अस्त्र शस्त्र तुम्हारे शरीर में कुठित हो र
हैं। प्रतीत होता है तुम्हारा शरीर वज्र का बना हुआ है। उन
प्रयत्न करने पर भी अस्त्र आपके अङ्ग में नहीं गड़ते अ
हम युद्ध कैसे करें।"

यह सुनकर हँसता हुआ वह असुर बोला—"देवताओ
मेरा सम्पूर्ण शरीर तो बहुत कठोर है, उसमें तुम्हारे सब अ
शस्त्र व्यर्थ हो जायगे। तुम लोग एक काम करो, मेरी जिह

सब से कोमल है, तुम सब मिलकर उसी पर अपने समस्त अस्त्र शस्त्रों का प्रहार करो।"

यह सुनकर देवताओं को बडी प्रसन्नता हुई। यह तो अद्भुत शत्रु है, जो अपनी पराजय की बात स्वय बताता है। उसकी बात को मानकर इन्द्र, वरुण, कुबेर यम आदि मुख्य मुख्य देवता गण अपने अपने अस्त्रों को सम्हाल कर खडे हो गये। उसने अपनी जिह्वा मुख से बाहर की। वह जिह्वा क्या थी, रक्त वर्ण मे रङ्गी हुई गगोत्री से गगासागर पर्यन्त गगाजी की धारा के समान थी। उसका मुख फटा था, मानों कैलाश की कदरा से गेरू मे रङ्गी गगाजी की धारा चमक रही हो। सभी देवताओं ने उसकी जीभ पर एक साथ ही प्रहार किये। उस पट्ठे ने क्या काम किया सभी अस्त्र शस्त्रो को मुख में बद करके निगल गया। नि शस्त्र हुए देवता देखते के देखते ही रह गये। अस्त्र हीन होने पर वे सब रण को छोडकर उसी प्रकार भागे जैसे गॉव मे आग लग जाने पर सब अपने अपने घरों को छोडकर भाग जाते हैं।

वृत्रासुर तो धर्म के मर्म को जानने वाला था। वह तो धर्म विरुद्ध कभी कूट युद्ध करता ही नहीं था। अत असुर ने भयभीत हुए रण से भागने वाले देवताओं का न तो पीछा ही किया और न उन पर प्रहार ही किया। देवता अपने अपने प्राणों की रक्षा करते हुए वहाँ से मुट्ठी बॉध कर भागे। वृत्र की इस विजय को देखकर असुरों के हर्ष का ठिकाना नहा रहा। वे शख, दुन्दुभी, पणव, तुरही आदि विजय के बाजे बजाने लगे। आनन्द मनाने लगे हँसने और किलकारियॉ मारने लगे।

वृत्र के ऐसे बल पराक्रम को देखकर असुर गण परम

सन्तुष्ट हुए, उन सबने मिलकर वृत्रासुर को असुरों का बना दिया। सभी उसकी छत्र छाया में रह कर स्वर्गीय सु का उपभोग करने लगे। इधर देवता भी अपनी कहीं न देखकर तेजोहीन तथा उदास होकर निश्चय पूर्वक मन्नारायण की उपासना करने लगे।

छप्पय

बोल्यो उनतें वृत्र देव! तुम सब अज्ञानी।
अरे, तुमनि मम देह वज्रकी बनी न जानी॥
अति कोमल मम जीभ ताहि पै शस्त्र चलाओ।
एक साथ मिलि मोहि युद्ध की कला दिखाओ॥
सुर सुनि सब मिलि जीभ पै, अस्त्र शस्त्र मारन लगे।
निगले सब के अस्त्र जब, है निशस्त्र डरि सुर भगे॥

पराजित देवों की भगवत् स्तुति

(३६४)

तमेव देव वयमात्मदैवतम्,
पर प्रधान पुरुप विश्वमन्यम्।
व्रजाम सर्वे शरण शरण्यम्,
स्वाना स नो धास्यति शं महात्मा ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

आगत देखे दव असुर जय पाइ सिहाये।
नहीं शरण लखि अन्य विष्णुढिँग सुर सब धाये॥
हाथ जोरि सब विनय करें हरि हमें बचाओ।
बहुत अवज्ञा सही जगत पति अब अपनाओ॥
गुरु अपमान स्वरूप महँ, वृत्र विपति सिर पै परी।
गो द्विजदेवनि की तुमनि, युग युग महँ रक्षा करी॥

जीव तभी दुख पाता है, जब अहंकार वश अपने स्वामी को भूल जाता है। जहाँ भगवान् को स्मरण किया तहाँ उसकी

---

* पराजित हुए देवतागण भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—जो प्रभु सब के आत्मा हैं परम देव हैं, प्रधान और प्रकृति तथा विश्वरूप हैं और इन सब से अन्य भी हैं। उन्हीं शरणागतवत्सल श्रीहरि की हम सब शरण में हैं। वे ही महात्मा हम सब अपने आश्रितों का अवश्य ही कल्याण करें।

आधि व्याधि सभी नष्ट हो जाती है, वह स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है। तब काल भी उससे डर जाता है, मृत्यु भी उसके निकट फटकने नहीं पाती। भगवान जीवों के दोषों की ओर ध्यान नहीं देते, वे तो शरण में आये हुये सभी जीवों की रक्षा करते हैं, यदि भगवान् जीवों के अपराधों की ही ओर ध्यान दें, तब तो, इसकी निष्कृति का कोई उपाय ही नहीं। कभी यह संसार चक्र से बाहर ही नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान् को कारण रहित कृपालु शरणागत वत्सल अशरणशरण, दयालु, क्षमावान और भक्त भयहारी आदि आदि नामों से पुकारते हैं। देवताओं का देवत्व इसी में है, कि वे कभी कभी ऐश्वर्य के मदमें भगवान् को भूल तो अवश्य जाते हैं, किन्तु विपत्ति पड़ते ही, अन्य किसी का आश्रय ग्रहण न करके भगवान् की ही शरण जाते हैं। भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, कि जो एकबार हृदय से प्रसन्न होकर कह दे कि 'मैं तुम्हारा हूँ' तो उसे सर्व भूतों से अभयदान दे देते हैं, फिर कोई कितना भी बली से बली पुरुष क्यों न हो, भगवान् शरणापन्न पुरुष का कुछ भी विगाड़ नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर से पराजित होकर देवता गण सर्वान्तर्यामी प्रभु की शरण में गये। पश्चिम समुद्र के तट पर देवता खड़े होकर भगवान की आर्त स्वर से स्तुति करने लगे। उन्हें भगवान का कोई रूप तो दिखाई देता ही नहीं था, वैसे ही अन्तःकरण में स्थित सर्वव्यापक आदि पुरुष श्रीमन्नारायण की एकाग्रचित्त से उपासना करने लगे।

सर्व प्रथम अत्यन्त विनीत भाव से इन्द्र ने गद्गद् कंठ से स्तुति की—"हे प्रभो! आप पाँचों भूत, तीनों लोक और ब्रह्मा

दिक देवों के भी परम पूजनीय हैं। समस्त जीव विवश होकर आप को पूजोपहार समर्पण करते हैं। आप भय को भी भय देने वाले हैं, काल भी आप के सम्मुख काँपता रहता है, ऐसे सर्व समर्पण, सर्वेश्वर, आप हम असहाय दीन हीनों को रक्षा करें, हमारे दुखों को दूर करे, हमे विपत्ति के सागर से बचावें।"

जब इन्द्र स्तुति कर चुके तब उत्तर दिशा के लोकपाल कुबेर जी बोले—"हे परमात्मन्! यह ससार वास्तव मे अपार सागर है। जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इसे पार नहीं कर सकता। आपके पाद पद्मरूप नौका का आश्रय लेकर जो पार जाने का प्रयत्न करता है, वह तो सुख पूर्वक पार हो जाता है, किन्तु जो मन्दमति आप के जल मे कभी भी न डूबने वाले सर्वसमर्थ अरुण चरणकमलों का आश्रय न लेकर किसी अन्य उपाय से इस दुस्तर जलनिधि को पार करना चाहता है, उसका प्रयत्न ऐसा ही जैसे कोई कुत्ते की पूँछ पकड़ कर सातों समुद्रों के पार जाना चाहता हो। इस भीषण अगाध दुस्तर ससार सागर मे प्राणियों के एक मात्र रक्षक उन्हे सभी प्रकार की विपत्तियों से बचाने वाले सर्वसमर्थ आपही हैं। आप रागद्वेष से शून्य, प्रशान्त, उपाधिकृत भेदों से रहित, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त पूर्णकाम, अहङ्कार शून्य तथा आत्मलाभ से सर्वदा सन्तुष्ट रहने वाले सर्वान्तर्यामी हैं। अत: हम सब देवता आपकी शरण मे हैं।

धनद कुबेर की स्तुति करने के अनन्तर पश्चिम दिशा के अधीश जलों के स्वामी वरुण जी हाथ जोड कर गद्गद् कठसे प्रभुकी स्तुति करने लगे। उन्होने कहा—"प्रभो! देखिये, राजर्षि सत्यव्रत समुद्र के तट पर आप का आश्रय ग्रहण करके निश्चिन्त बैठे थे। उन पर घोर विपत्ति आने वाली थी। तीनों

लोकों के नाश का समय आ गया था। प्रलयकालीन समुद्र उमडने वाला था, उस समय आप ने मछली का रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया। आपके विशाल शृङ्ग में पृथिवी रूप नौका को बाँधकर वे राजर्षि मनु अनायास ही इस दुस्तर विपत्ति सागर के पार हो गये। सो हे मत्स्यरूप जनार्दन! हम भी वृत्र के दुरन्त भय से त्रस्त हैं, उस असुर रूप अगाध दु.ख सागर से हमारी आप अवश्य अवश्य रक्षा करें। हमें अपने चरणों की छाया में रखकर अभय प्रदान करें।

इस प्रकार जब वरुण जी स्तुति कर चुके तब दक्षिण दिशा के स्वामी यमराज भी अपने पाश को फेंक कर, दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर, गद्‌गद् कंठ से सावधानी के साथ स्तुति करने लगे। उन्होंने कहा—प्रभो! जिन पर आप की कृपा है, वे अकेले होने पर भी किसी से पराजित नहीं होते। देखिये, सृष्टि के आदि में जब तक लोकों की भी कल्पना नहीं थी, इस दृश्य जगत् का नाश भी नहीं होता था, दूसरा कोई जीव दृष्टि गोचर नहीं होता था। उस समय प्रचण्ड पवन के थपेड़ों से उठी हुई उत्ताल तरङ्गों की गर्जना के कारण, अत्यन्त भयानक प्रलय कालीन जल में भगवान की नाभिकमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा जी अकेले ही आश्चर्य के सहित आँखें फाड़ फाड़ कर चारों दिशाओं को देख रहे थे। उसी समय मधुकर व दैत्यों ने उत्पन्न होकर उन्हें डराया धमकाया। आप उस समय शेष शैया पर सुख से शयन कर रहे थे। अपने आश्रित ब्रह्मा जी को भयभीत देखकर आप ने योगनिद्रा का परित्याग किया। युद्ध करके उन दैत्यों को मार कर ब्रह्मा जी के संकट को दूर किया। हे शरणागत वत्सल! हे भक्त भयभंजनकारी! प्रभो! हम सब भी वृत्रासुर के कारण अत्यंत ही भयभीत हो गये हैं।

हम सब निरावलम्बन की भाँति विपत्ति सागर मे डूबते उतराते हुए आप के चरणों के समीप पहुँच गये हैं। अब तो हमारी रक्षा करो। हमें इस विपत्ति सागर से पार पहुँचा दो। वृत्र के भय से हमें निर्भय बना दो।"

जब चारों लोकपाल स्तुति कर चुके तब मनु आदि प्रजापतियों ने दीनता के साथ उन सर्वसमर्थ प्रभु की स्तुति आरम्भ का प्रजापतियों ने कहा—"हे जगत्पति, हे विश्वम्भर! आप चराचर विश्व के कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता हैं। आप ही इस जगत् के एक मात्र आश्रय हैं। आपने ही अपनी माया से हमारी रचना की है। आप की ही प्रेरणा से आपकी ही कृपा प्रसाद पाकर आप की अनुग्रह से ही हम ससार की रचना करते हैं और आपकी दुर्ज्ञेय माया के चक्कर मे पड जाने के कारण हम आप को भुलाकर अपने को ही स्वतत्र ईश्वर मान बैठते हैं। इसी अभिमान के कारण हम आप के यथार्थ रूप से अनभिज्ञ बने रहते हैं। आप सम्पूर्ण प्राणिया के अन्तःकरण मे स्थित होकर सभी प्रेरणाओं को स्वय करते हैं। आप सर्वसमर्थ के स्वरूप को भला भाँति न जानकर भी हम आपकी शरण मे आये हैं हमें विपत्ति से बचाइये देवताओं की रक्षा करके तीनों लोकों को सुखी कीजिए। आसुरी भावों का नाश करके सतोगुण की वृद्धि कीजिये। अपने आश्रित सुरों को अभय प्रदान कीजिये।"

प्रजापतियों की स्तुति के अनन्तर मरुद्गण भगवान् की स्तुति करने लगे। जिन्होंने विनीत भाव से कहा—"हे धर्मावतार! हे ब्रह्मण्यदेव! आप के लिए न कोई स्वपक्ष है न परपक्ष, आपका न कोई शत्रु है न मित्र। आप तो पक्षपात से रहित, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी और सर्वेश्वर हैं

आप निर्विकार होते हुये भी जब हम देवताओं को दुखी देखते हैं, तब देव द्विज तथा गौओं की रक्षा के निमित्त भाँति भाँति के अवतार लेकर इन्हे विपत्तियों से बचाते हैं। कभी आप देवताओं में उपेन्द्र आदि रूप धारण कर लेते हैं, कभी ऋषियो में कपिल, परशुराम आदि रूप रखकर ससार को विपत्तियों से बचाते हैं। कभी कच्छ, मच्छ, वाराह नृसिंह आदि पशुओं का रूप रख कर अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। कभी राम, कृष्ण, बुद्ध कल्कि आदि मनुष्यों का सा रूप रखकर भाँति भाँति की अद्भुत क्रीडायें किया करते हैं। यद्यपि आप को कोई कर्तव्य नहीं, फिर भी साधुओं का परित्राण करने के निमित्त तथा दुष्टों का विनाश करने के निमित्त धर्म सस्थापनार्थ युग युग में उत्पन्न होकर देवताओं को निर्भय करते हैं। आज हम असुर वृत्र के भय से भयभीत हो गय हैं। हम अनाश्रितों को अपने चरणों का आश्रय देकर निर्भय बनाइये हमारी रक्षा कीजिय।"

इसके अनन्तर अग्निदेव ने कहा—"हे प्रभो ! आप सबके आत्मा और परम देव हैं। देवताओं के एक मात्र आश्रय आपही हैं। आप इस विश्व से सर्वथा पृथक् होने पर भी प्रकृति और पुरुप रूप से इस विश्व के आदि कारण हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीला विलास है, आप इस प्रपञ्च से परे होने पर भी विश्व में सर्वत्र समान रूप से ओत प्रोत हैं। ऐसे आप शरणागतवत्सल श्रीहरि की हम शरण हैं। हे अशरण शरण ! आप हम भक्तों की रक्षा करें, हमारा कल्याण करें, हमें भय से छुड़ावें, हम दास जान के अपनावें। हमें अपने अचिन्त्य रूप के दर्शन करावें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! इस प्रकार सभी देवो

ने उन परम देव अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली आत्म स्वरूप श्रीहरि की विविधस्तोत्रों द्वारा भाँति भाँति से स्तुति की। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी, वनमाली, श्रीहरि तुरन्त वहाँ प्रकट हो गये। उस समय भगवान् का मुखारविन्द शरद्‌कालीन पूर्णचन्द्र के समान खिला हुआ था। उस पर मन्द मन्द मुस्कान छिटक रही थी। टटके खिले हुए शारदीय कमलों के समान उनके नेत्र युगल प्रफुल्लित हो रहे थे। नन्द सुनन्दादि सोलह पार्षद इन्हें घेरे खड़े थे। प्रभु के सभी पार्षद भी चतुर्भुजी थे। उनके भी चारो श्रीहस्तों में शङ्ख, चक्र गदा और पद्म सुशोभित थे। वे सब भी घुटनो तक लटकने वाली वनमालायें पहिने हुये थे। सभी के श्रीअङ्गो मे पीताम्बर फहरा रहा था, सभी मणिमय कीट पहिने तथा कानों मे कमनीय कुण्डलों को धारण किये भगवान् के चारों ओर खड़े थे। उनके वस्त्राभूषण आयुध आदि सब तो श्रीहरि के समान ही थे, इतना अन्तर था, कि भगवान् के श्रीअङ्गों मे श्रीवत्स लाञ्छन और कौस्तुभमणि शोभा दे रहा था और वे सब इन दोनों से रहित थे।

देवतागण भगवान् के एसे अनवद्य सौन्दर्ययुक्त परम शोभामय अत्यन्त मनोहर रूप का दर्शन करके, उनके दर्शनानन्द के कारण प्रेममे विभोर हुए, अत्यन्त विह्वलता के सहित पृथिवी में दण्ड के समान लोटकर भक्तिभाव से साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे। वडी देर तक वे प्रेममे पगले आत्मविस्मृत बने हुए पड़े रहे।

कुछ कालके अनन्तर अपने को सम्हाल कर उठकर खड़े हो गए और अत्यन्त विनीत वचनों से गरुड के ऊपर चढ़े अपने सम्मुख खड़े उन अच्युत अखिलेश की स्तुति करने लगे। देव-

ताओं ने देखा पद्य में हृद्गत सम्पूर्ण भावव्यक्त नहीं हो सके अत. वे गद्य मे ही स्तुति करने लगे। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—"हे भगवन्! हे परम पुरुष! हे महानुभाव! हे परम मङ्गल मय! हे परम कल्याणरूप! हे परम कारुणिक! हे एक मात्र जगदाधार! हे लोकैकनाथ! हे सर्वेश्वर हे लक्ष्मीपते! आपके पुनित पादपद्मों में पुन पुन प्रणाम है। हम आपकी शरण मे आये हैं।"

श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो! आर्त और अर्थार्थी देवताओं ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये भगवान् की बड़ी लम्बी चौड़ी स्तुति की। उसको में समयानुसार स्तुति प्रकरण में कहूँगा। सम्पूर्ण स्तुति कर लेने के अनन्तर उन्होंने अपना यथार्थ अभिप्राय प्रकट किया। अन्त में देवताओं ने कहा—"हे सर्वेश्वर! हे श्रीकृष्ण! जिस वृत्रासुर ने हमारे अस्त्रों को ही नहीं निगल लिया है अपितु हमारे तेज का अपहरण करके हमें तेजोहीन भी बना दिया है, उस त्रिलोकी का नाश करने वाले उस दुष्ट का संहार करें। हे शुद्ध स्वरूप! हे हृदयाकाश विहारी, हे सर्व जीवों के साक्षी रूप, विमल कीर्ति वाले विश्वनाथ! हे साधु जन सेवित! हे सच्चिदानन्दस्वरूप स्वामिन्! संसार रूप बीहड़ वन में भटकते इस जीव रूप पथिक को शरण में आजाने पर उत्तम गति देने वाले हे शरणागत वत्सल हमारी इस असुर से रक्षा कीजिये। आपके पुनीत पादपद्मों में हमारा पुन पुन प्रणाम है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् देवताओं की स्तुति से भगवान् प्रसन्न हुए और उन्हें निर्भय करते हुए वरदान और उपदेश देने को उद्यत हुए।

छप्पय

विपति उदधि महँ मग्न भए हरि आइ उबारो।
अन्य शरण नहिं नाथ गहो अब हाथ हमारो॥
सुनि देवन की विनय तुरत तहँ प्रकटे श्री हरि।
अति प्रसन्न सब भए देव दुर्लभ दर्शन करि॥
देखि दुखी देवन दया करी विष्णु बोले बचन।
शुभ सम्मति सबकूँ दऊँ, ताहि सुनो एकाग्रमन॥

वृत्र से डरे सुरों को श्रीहरि की सम्

(३६५)

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ५१ श्लो०

छप्पय

मुनि दधीचि के निकट देव सब मिलिके जाओ।
निज विपत्तिके वृत्त जाइ मुनिवरहिँ सुनाओ॥
विद्या व्रत तें पूत तपस्या के प्रभाव तें।
उनकी हड्डी विमल सरल सच्चे स्वभाव तें॥
बने वज्र मुनि अस्थि तें, वृत्रासुर मरि जायगो।
सगरो दुख कटि जायगो, गयो राज्य फिरि आइगो॥

प्राय लोग कहा करते हैं, भगवान् सर्व समर्थ थे, ता रावण, वालि, कस आदि को मारने को इतना प्रपंच क्या रचा। झट से मार देते। लोगों को कितना कष्ट होता है सीता जी वर्ष भर राक्षस के घर रहीं। नन्द यशोदा को वर्षों कारागार

---

*देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर प्रकट हुए श्रीहरि इन्द्र से कहने लगे—"मघवन्! तुम शीघ्र ही ऋषियों में श्रेष्ठ दधीचि मुनि के समीप जाओ। वहाँ जाकर उनसे विद्या, व्रत और तप के प्रभाव से अत्यंत दृढ़ हुए उनके शरीर को माँगलो। जाओ तुम्हारा कल्याण हो।

नी यातनायें सहनी पड़ीं। कृष्ण भक्त पाडव विपत्तियों को झेलते हुए वन वन भटकते रहे। सर्व समर्थ भगवान् के लिये ये बातें अनुरूप नहीं। दुष्टों को उत्पन्न ही न होने दें। यदि उत्पन्न हो ही जायें, तो पैदा होते समय ही उन्हें मार डालें जिससे साधु पुरुषों को कष्ट न दे सकें। इतनी सामर्थ्य होने पर भी जो भगवान दुष्टों की इतनी उपेक्षा कर देते हैं उन्हे इतना बढा चढा देते हैं इससे हमे उनके सर्व शक्तिमान होने मे सदेह होता है। रावण हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष ये लोग १०० हजार वर्षों तक नहीं। युगों तक जावित रहे। भगवान् ने क्यों उन्हें पैदा होते मार नहीं डाला क्यों उनकी उपेक्षा की ?

इसका बड़ा सरल सा उत्तर है। कोई धनी है बैठा ठाला है, अटूट सम्पति है, काम धधा कुछ है नहीं, स्वभाव का विनोदी है। अपनी धर्मपत्नी क साथ शतरज ही खेलता रहता है। पत्नी किसी दूसरे की नहीं उसी की अर्धाङ्गिनी है। शतरज की गोट उसके नीचे का वस्त्र सब उसी ने मँगाया है। उसमें जो हाथी घोडा, ऊँट मत्री सिपाही भिन्न भिन्न रगों से रगी लकडी के होते हैं वे भी अपने ही हैं, किन्तु जब खेलने बैठता है, तो एक एक गोट के लिए अपनी वहू से [illegible] गम्भीर होकर लडता है। यह दाव मेरा है, देखो मैं [illegible] कदापि न लेने दूँगा, तुम रूँगट मत करो। मेरे [illegible] केसा गम्भीरता से लडता है, एक एक गोट के [illegible] देता है। स्त्री भी भौं चढाकर गम्भीर होकर [illegible] है और कहती है—'मेरी गोट को लेने वाले [illegible]?" यह सब सहता है, यहाँ तक कि गुत्थम गुत्था [illegible] उसके लिए भी उद्यत रहता है, क्योंकि वह [illegible] है, [illegible] विनोद है। जहाँ खेल समाप्त हुआ [illegible] गोटें [illegible]

देते हैं। दूसरे दिन फिर वस्त्र बिछाकर वैसा ही खेल
हैं। वे ही गोटें वे ही चालें वेही खेलने वाले, किन्तु
नूतनता दिखाई देती है। नित्य जय पराजय के लिए व्य
बनी रहती है। नित्य ही भाँति भाँति की चालें चली जाती
इसी तरह यह विश्व प्रपंच उन नटनागर की क्रीड़ा है,
मनुष्य, तिर्यक् आदि उनकी गोटें हैं। अपनी दैवी माया
आश्रय लेकर खेल खेल रहे हैं। उनकी न कभी जय है,
पराजय वे तो इन दोनों से परे शुद्ध, बुद्ध मुक्त तथा नि
तृप्त हैं, फिर भी मनोविनोद के लिए नित्य नई नई
किया करते हैं और अपने भक्तों के महत्त्व को प्रकट
उनकी कीर्ति को दशों दिशाओं में फैलाया करते हैं यह
स्वभाव है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं ने
करुण स्वर से एकाग्र चित्त होकर भगवान् की स्तुति की
अपने सुमधुर स्तोत्रों को सुनकर स्तुति प्रिय श्रीहरि
प्रसन्न हुये और देवताओं को अभयदान देते हुये बोले—"ह
देवताओं! तुम लोग उदास कैसे हो रहे हो? क्यों तुम ल
मेरी स्तुति कर रहे हो? तुमने तो बड़ी अद्भुत ज्ञानमय
स्तुति का ऐसे ज्ञान के द्वारा तो मनुष्यों को आत्मा के प्रभाव
स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है। जिसे प्राप्त करके
की सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं।

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम लोग तो आर्त भक्त
निष्काम भक्त नहीं। हम तो स्वार्थ से भक्ति कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"हे विबुधगण! अरे अपनी स्तुति
जब तुमने मुझे प्रसन्न ही कर लिया, तो फिर तुम लोगों के लि

संसार में कोई भी दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु अप्राप्य नहीं है, फिर भी मेरा अन्याय ऐकान्तिक तत्ववेत्ता भक्त मुझसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! हम देखते हैं, कभी कभी आपके भक्त जिस वस्तु को चाहते हैं आप उन्हें उस वस्तु को नहीं देते। नारदजी एक राजकुमारी के रूप पर आसक्त हो कर उसे चाहते थे। उसके लिये व्यग्र बने हुए थे। जैसे हो वैसे वह प्यारी प्यारी राजकुमारी मिल जाय। यही उन्हें एकमात्र धुनि थी। वे आपके अनन्य भक्त हैं। आपके अतिरिक्त उनकी कोई गति नहीं, कोई अवलम्ब नहीं, आश्रय नहीं। आपसे उन्होंने सुन्दर रूप माँगा। सो, सुन्दर रूप देना तो पृथक् रहा आपने उनका बन्दर का मुँह बना दिया। उनकी बानराकृति को देखकर वह दुलहिन राजकुमारी चिढ़ गई और उसने नारद जी की ओर देखा तक नहीं। आपने अपने अनन्य भक्त नारद जी की इतनी छोटी सी इच्छा भी पूर्ण नहीं की?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और हँसते २ बोले—"देवताओ! देखो जो अपरिपक्व बुद्धि के पुरुष विषयों को ही सार समझकर उनकी याचना करते हैं, उन्हें अपने वास्तविक कल्याण का बोध नहीं होता। ऐसे पुरुषों को विषयों को दे देना तो बन्दर के हाथ में छुरी देने के समान है, जो चचलता के कारण अपनी नाक काट सकता है। बालक को सर्प के समीप बिठाने के समान है, जो उसे चमकीला समझ कर खेल मे पकड़ ले और अपने प्राणों को गँवा सकता है। ऐसे विषय लोलुप दासों को जो स्वामी भी उनके अभीष्ट वैषयिक पदार्थ देते हैं, वे उससे भी अधिक मूर्ख हैं। देखिये! जो धूम्र पान के दोषों को जानता है वह अपने पुत्रों को धूम्र पान

करने को क्यों देगा ? जो मुक्ति मार्ग को समझता है, वह आश्रितों को प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश क्यों देने लगा। एक है। उसकी चिकित्सा कोई कृपालु वैद्य बड़ी तत्परता से है। उसे खाँसी बहुत है, वह बार बार वैद्य से खट्टा-मट्ठा तो क्या वैद्य उसे दे सकता है ? किसी भी कुपथ्य की वस्तु यह मन चलावे तो क्या योग्य हितैषी वैद्य उसके सेवन की सम्मति दे सकता है ? इसी प्रकार मैं अपने कृपापात्र भ को माँगने पर भी अनित्य, क्षणभंगुर नाशवान् दुःख परिण विषय सुखों को नहीं देता।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो ! यह सब तो सत्य है, कि इस समय हम सब तो बड़ी विपत्ति में पड़े हुए हैं। वृत्रासुर हम सब को तो घरबार से हीन दुखी और निराश्रय बना दिया है। हे सर्वेश्वर ! जब तक वह जीता रहेगा, तब तक हम प्रकार दुखी होकर भटकते रहेंगे। यह दुष्ट दैत्य जिस उपाय मर सके, उस उपाय को बताइये, हमें इस विपत्ति से छुड़ाइ आपही कृपा करके इस दुष्ट को मार कर हमारे क्लेशों का करदें, आपके अतिरिक्त कोई उस इतने डील डौल वाले को मारने में समर्थ नहीं।"

यह सुनकर भगवान् गंभीर होकर बोले—"भैया ! वृत्रा बड़ा तेजस्वी तपस्वी धर्मात्मा और मेरा भक्त है। वह मेरे नहीं मारा जा सकता। मैं प्रत्यक्ष तो उसे मारूँगा नहीं। तुम्हें उसके मारने का उपाय बता दूँगा।"

देवराजइन्द्र ने उत्सुकतापूर्वक कहा—"अच्छा भगव उपाय ही बता दीजिये। आप सीधे से तो मारेंगे नहीं। हमे अधिक इधर उधर भटका कर उसका अंत करना चाहते अच्छी बात है आज्ञा कीजिये हम क्या करें ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, तुम सब लोग मिल कर हर्षि दधीचि मुनि के समीप जाओ। उन्होंने चिरकाल तक ोर तप किया है, भाँति भाँति के नियम और व्रतों का पालन कया है वे ब्रह्मविद्या के ज्ञाता हैं। उनकी एक एक हड्डी परम ावन बन गई है। तुमलोग जाकर उनसे उनका शरीर माँग ो। उनकी पवित्र अस्थियों से एक वज्र बनाओ। उस वज्र से ी वृत्र मर सकता है। इसके अतिरिक्त उसके मरने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है।"

यह सुनकर उदास मन से देवता कहने लगे—"भगवन्! यदि वृत्त को मारना आपको अभीष्ट नहीं, तो स्पष्ट मना करदें। इसे घुमा फिरा कर बातें क्यों कर रहे हैं। "न नौ मन काजर होगा, न राधा नाचेगी। न दधीचि मुनि अपनी हड्डी देंगे न वज्र बनेगा और न वृत्रासुर मारा जायगा। भगवन्! अपने आप स्वेच्छा से अपने जीवित शरीर की हड्डी कौन दे सकता है। हड्डी की बात तो पृथक् रही, यह तो आत्मा के अधिष्ठान शरीर को टिकाये रखने की मुख्य वस्तु है। अजी, कोई शरीर से सम्बन्ध रखने वाले धन में से उसका छोटे से छोटा भाग माँगे तो भी मनुष्य देने में आना कानी करेगा। फिर हड्डी देना तो दूर की बात है।"

यह सुनकर भगवान् हँसते हुए बोले—"अरे, देवताओं! तुम सब को अपने समान ही स्वार्थी समझते हो? अरे, परोपकार के लिये तो पुरुष सर्वस्व निछावर कर देते हैं। राजाशिवि ने एक कपोत की रक्षा के लिये अपने शरीर का मास काट काट कर दे दिया था। दैत्यराज बलि ने मुझे पहिचान कर शुक्राचार्य के मना करने पर भी अपना सर्वस्व दान कर दिया था। परोपकारी पुरुषों के लिये कोई वस्तु अदेय नहीं,

उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं। तुम अपने मन मे शंका म करो, उन मुनिवर की शरण मे जाओ। वे तुम्हारे मनोरथ अवश्य ही पूर्ण करेंगे। देखो, उन्होंने अपना शिर कटाकर अश्विनी कुमारों को ब्रह्म विद्या का उपदेश किया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग, सूतजी दधीचि मुनि ने अपना सिर क्यों कटाया? उन्होंने अश्विनी कुमारों को बिना सिर के उपदेश कैसे किया, फिर उनका कटा हुआ सिर कैसे जुड गया। यदि यह बात हमारे सुनाने योग्य हो, तो कृपाकर के इसे हमें अवश्य सुनावें। परोपकारी पुरुषों के चरित्र सुनने से पुण्य की वृद्धि होती है, हृदय मे सद् गुणों का विकास होता है और जीवन मे नूतन स्फूर्ति का संचार होता है।

शौनकजी के ऐसे प्रश्न करने पर सूतजी बोले—महाभाग! जिस प्रकार अपना सिर कटा कर महामहिम महर्षिवर्य श्री दधीचि ने अश्विनी कुमारों को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया उस परम पवित्र पुण्यप्रद उपाख्यान को मैं आप सब को सुनाता हूँ, उसे आप अव्यग्र भाव से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

हरि की सुनिकें बात देव ह्वैकें विस्मय युत।
चिन्ता भय तें विकल भये निरखें सब इत उत ॥
कहें—"प्रभो! हम दुखित असंभव कह्यो न जानी।
देहि न जीवित अस्थि होहि चाहे नर ज्ञानी ॥
को जगमहँ अस करि सके, प्रान दान दुष्कर करम।
हमरी दनों दयानिधि! दुखदायी होवे परम ॥

शिर कटाकर भी दधीचि मुनिका विद्यादान देना

(२६६)

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्मनिष्कलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥*

(श्रीभा० ६ स्कं० ९ अ० ५२ श्लो०

छप्पय

हरि हँसि बोले देव ! सबनि अपु सम मति जानों ।
पर उपकारी पुरुष देहिँ सरबसु सचु मानों ॥
शिवि बलि अरु हरिचन्द कर्म दुष्कर जग कीन्हों ।
पर कारज के हेतु मोह तन को तजि दीन्हों ॥
सिर कटाइ उपदेश शुभ, ज्ञान अश्वशिर कूँ कर्यो ।
का अदेय जिनकूँ सदा, हृदय ज्ञान धनतें भर्यो ॥

जिस विषय का जिन्हें सच्चा व्यसन हो जाता है उस विषय के लिये वे प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं धन लोलुप पुरुष

---

*भगवान देवताओं को सम्मति देते हुए कह रहे हैं—'देवताओ ! देखो उन दधीचि मुनि को अश्वशिर नामक विशुद्ध ब्रह्मविद्या का ज्ञान है। उस विद्या को उन्होंने अश्विनीकुमारों को पढ़ाया था। जिसके प्रभाव से उन दोनों अश्विनीकुमारों को अमरता प्राप्त हो गई है।'

धन के लिये, कामुक पुरुष मनोच्छित कामिनी के लिये, मानाभिलाषी मान के लिये अपने सिर को हथेली पर रख कर उसके लिये प्रबल प्रयत्न करते हैं। नाना भाँति के दुःखों को सहन करते हैं इससे इन्हें कष्ट नहीं होता उलटे उस प्रयत्न में उन्हें एक मानसिक सन्तोष सा होता है। इसी प्रकार परोपकारी पुरुषों को पर पीडा के निवारण में एक प्रकार की आन्तरिक शांति होती है। परोपकार किये बिना रह नहीं सकते। दूसरों के दुःखों को देखकर चुप बैठे रहना उनके लिए असभव हो जाता है। अपनी किसी चेष्टा से दूसरों का भला हो जाय इसके लिये वे कुछ उठा नहीं रखते। अपने शरीर को देकर भी दूसरों की भलाई हो तो वे शरीर का तनिक भी मोह नहीं करते हँसते हँसते सिर कटाने के लिये तैयार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दध्यङ् अथर्वा मुनि के पुत्र भगवान् दधीचि परोपकारियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, वे परम तपस्वी महान् व्रतधारी परमपरोपकारी ब्रह्मज्ञानी महापुरुष थे। उस समय उनके समान ब्रह्मविद्या को जानने वाले मुनि बहुत ही थोड़े थे। जितने ही वे ब्रह्मविद्या में विशारद थे उतने ही कर्मकाण्ड में भी निष्णात थे। प्रवर्ग्य नामक एक यज्ञ कर्म विशेष के तो वे सर्व श्रेष्ठ ज्ञाता समझे जाते थे।

एक बार दोनों भाई अश्विनी कुमार इनके परम पावन ब्राह्मी श्री से सम्पन्न आश्रम में आये। उस फल फूलों के भार से नमित बड़े बड़े वृक्षों वाले पवित्र आश्रम में तेजस्वी मुनि तीनों हवनीय अग्नियों के सहित चतुर्थ अग्नि के समान तप से जाज्वल्यमान दिखाई देते थे। अश्विनी कुमारों ने उन महा तेजस्वी मुनि की श्रद्धा सहित चरण वन्दना की मुनि ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत करते हुए कुशल पूछी और कहा—"देव

ताओं के सम्माननीय वैद्यो ! आज तुम लोगों ने पधारकर मेरे आश्रम को और मुझे कृतार्थ किया, कहो मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ?"

इस पर हाथ जोड़े हुए अश्विनी कुमारा ने कहा—"भगवन् ! हम आज तपोमूर्ति आपका दर्शन करके कृतार्थ हो गये, सेवा तो हमे आपकी करनी चाहिये, किन्तु हम सेवा कर ही क्या सकते हैं। हम रोगों को अच्छा कर सकते हैं चूर्ण वाटिका, अवलेह, क्वाथ, रस पर्पटी आदि सुन्दर से सुन्दर दे सकते हैं। सो, आपको उनकी अपेक्षा नहीं। तपस्या और तेज के प्रभाव से रोग आपके पास फटक नहीं सकते, अत हम स्वय भी आपकी कुछ सेवा नहीं कर सकते। फिर भी आपने हमसे कुछ वरदान माँगने को कहा है तो हम आपसे यही याचना करते हैं कि हमें आप ब्रह्मविद्या का उपदेश दें।"

मुनि तो प्रसन्न ही थे अत बड़े स्नेह से बिना कुछ सोचे समझे कहने लगे—"अच्छी बात है इस समय तो मैं एक अनुष्ठान विशेष मे सलग्न हूँ, अब तो आप लोग पधारें कुछ काल के पश्चात् जब आप आवेंगे तब मैं आप दोनों को ब्रह्म विद्या का उपदेश अवश्य दूँगा।" यह सुनकर दोनों भाई अश्विनी कुमार प्रसन्नता के सहित लौट गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों ! ऐश्वर्यशाली पुरुष जब किसी अपने आश्रित व्यक्ति को अपने से बढ़ता हुआ देखते हैं तो उनके मन मे एक प्रकार का डाह होता है। इन्द्र ने जब यह बात सुनी कि महामुनि दधीचि अश्विनी कुमारों को ब्रह्म विद्या का उपदेश करेंगे, तब तो उनके मनमें बड़ा अमर्ष उत्पन्न हुआ वे तुरत तपोधन दधीचि के समीप पहुँचे। अपने आश्रम में देवेन्द्र

को देखकर मुनिवर बडे प्रसन्न हुए उनकी विधिवत पूजा का, कुशल पूछी। तदनन्तर इन्द्र ने कहा—"भगवन्! हमने सुना है, आप अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाले हैं।"

सरलता के साथ मुनि ने कहा—"हाँ, भैया! वे दोनों आय तो थे मेरे पास, किन्तु उस समय में एक विशेष अनुष्ठान में सलग्न था, अत मैंने उनसे फिर आने के लिये कह दिया है।"

इन्द्र ने गम्भीर होकर कहा—"भगवन्! आप उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश न करें।

आश्चर्य के साथ मुनि ने कहा—"क्यो बात क्या है ?"

देवेन्द्र ने कहा—"बात यही है महाराज कि वे लोग वैद्य हैं, वैद्य विद्या बडी अधम है। वैद्य का दर्शन अशुभ माना जाता है, वैद्य का अन्न पापमय होता है। वैद्य को श्राद्ध आदि मे बुलाना अत्यन्त निषेध है। जो वैद्य हैं वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी ही नहीं।"

इस पर मुनि ने कहा—"देवराज! आपने भी तो आयुर्वेद शास्त्र का चिरकाल तक अध्ययन किया है दूसरों को भी आपने पढाया है फिर आप आयुर्वेद शास्त्र का इतनी निन्दा क्यों करते हैं ?"

इस पर शाघ्रता के साथ इन्द्र ने कहा—"भगवन्! मैं अयुर्वेद शास्त्र की निन्दा नहीं करता। अवश्य मैंने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया है। मुझे इस विद्या का लाग आचाय भा मानत हैं मैंने मुनियों द्वारा इसका प्रचार भी कराया है, पढन पढाने में दोष नहीं है। दोष तो है इसके द्वारा आजीविका करने मे। इन अश्विनी कुमारों की तो यहा आजाविका है। य चिकित्सा से हा अपना कार्य चलाते हैं। वैद्य को द्रव्य वही देगा, जो रोगी होगा जिसके प्राण कठगत होंगे। रोग सदा पापों से होता है, स्वेच्छा

से कोई द्रव्य देना नहीं चाहता वैद्य को विवश होकर द्रव्य देना पड़ता है। अत वह पापमय द्रव्य निन्दनीय है। इसीलिये वैद्यों का अन्न पूय शोणित के समान अपवित्र और निन्दनीय बताया है।"

महामुनि दधीचि ने कहा—"भाई, चाहे जो कुछ हो, उन्होंने सच्चे हृदय से आकर मुझसे जिज्ञासा की मैंने उन्हें वचन दे दिया है। अब तो मैं वचनबद्ध हो चुका उनके आने पर मैं उन्हे ब्रह्म विद्या का उपदेश अवश्य दूँगा।"

इस पर क्रुद्ध होकर इन्द्र बोले—"देखिये ब्रह्मन ! मैं सीधे स धे आप से कहता हूँ आप उन्हें भूलकर भी ब्रह्म विद्या का उपदेश न दें, यदि आप मेरी बात न मानकर मेरा तिरस्कार कर के उन्हें ब्रह्म विद्या सिखाई तो मैं आपका सिर काट लूँगा।"

इस पर महामुनि दधीचि हँस पड़े और बोले—"अरे, इन्द्र तुम कोरे ही रहे। सिर काट लोगे तो मेरा क्या बिगाड़ोगे। मैं कोइ सिर तो हूँ नहीं, जो कटने पर बेकार हो जाऊँगा। तुम लाख सिर काटो मेरा इसमें क्या बनता बिगड़ता है ?"

इन्द्रकी बुद्धि मे यह बात नहीं बैठी। उन्होंने मुनि को धमकी देते हुए कहा—"देखिए, महाराज ! मैं सत्य कहता हूँ, यदि आपने मेरी बात न मानी, तो मैं बिना सोचे आपका सिर काट लूँगा।" इतना कहकर इन्द्र रोष में भर कर वहाँ से चले गये।

कालान्तर मे दोनों भाई अश्विनीकुमार मुनिवर दधीचि की सेवा में पुन उपस्थित हुए और प्रणाम करके बोले—"प्रभो ! आपने हमे वचन दिया था, कि हम तुम्हें ब्रह्म विद्या का उपदेश करेंगे, आशा है, आप का अनुष्ठान भी समाप्त हो गया

होगा। कृपा करके अब आप हमे पराविद्या का उपदेश देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करें।"

इस पर महामुनि दधीचि ने कहा—"भाई मैंने तुम लोगों से प्रतिज्ञा तो अवश्य की थी, किन्तु तुम्हारे पीछे एक दिन इन्द्र आया था, उसने तुम्हें ब्रह्मविद्या न देने के लिए मुझसे बहुत आग्रह किया, उसने तो यहाँ तक कह दिया, कि यदि आप मेरा बात न मानेंगे, तो मैं आपका सिर काट लूँगा। अब भैया! जैसा तुम उचित समझो।"

इस बात को सुनकर अश्विनीकुमारों ने उदास मन से कहा—"प्रभो! हम तो बड़ी आशा लगाकर आपके चरणों में उपस्थित हुये थे, आपने हमसे प्रतिज्ञा भी की थी, आप हमारी आशा पर पानी न फेरे, हमे निराश न करें अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर दें। सत्पुरुष जो कह देते हैं, उसे प्राण देकर भी पूरा करते हैं।"

मुनि ने सरलता के साथ कहा—"नहीं, भैया! ऐसी तो कोई बात नहीं। मैंने तुम्हें इन्द्र का समाचार सुनाया। यदि तुम्हारा ऐसी ही इच्छा है, तो मैं तुम्हें उपदेश दूँगा। इन्द्र यदि शिर काटे तो काट ले। मैं शरीर का परित्याग कर दूँगा। मुझे कुछ शरीर से मोह तो है ही नहीं।"

इस पर शीघ्रता के साथ अश्विनी कुमारों ने कहा—"नहीं भगवन्! हम आपके शरीर का नाश न होने देंगे। इन्द्र तो काटना ही जानता है, हम काटना जोडना दोनों ही जानते हैं। शल्य शालाक विद्या मे हम अत्यन्त निपुण हैं। हम एक काम करेंगे, घोड़े का सिर काटकर आपके धड मे लगा देंगे। आप उस अश्वके सिर से हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। इन्द्र आकर उसी सिर को काटेगा, जिससे आप ने उपदेश दिया है।

जब आपका अश्ववाला सिर कट जाय, तो आपके पूर्व के सिर हम पुनः धड़ मे लगा कर सी देंगे। उसकी औषधियों द्वारा चिकित्सा कर लेंगे। मृत्यु की बात भगवन्! पृथक् है, किन्तु जो ९९ आकाल मृत्यु हैं, उनसे हम प्रत्येक प्राणी को बचा सकते हैं। शस्त्र से सिर काटना अकाल मृत्यु ही है, उसकी चिकित्सा हम भली भाँति जानते हैं।"

अश्विनी कुमारों की ऐसी बात सुनकर महामुनि दधीचि परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत दोनों भाइयों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। आत्मा परमात्मा का गूढ़ रहस्य समझाया। अश्व के मुख से उपदेश की जाने के कारण ब्रह्मविद्या का नाम अश्वशिरा भी पड़ गया। वेदों में भी इसका उल्लेख है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्यवादी ऋषि ने मिथ्या भाषण के भय से अपना सिर भी काटना स्वीकार कर लिया। इन्द्र तो हठी ही ठहरे वे अपनी प्रतिज्ञानुसार उपदेश के अन्त में मुनि का सिर काट कर चले गये। मुनि के दोनों वैद्य शिष्यों ने उनका सिर पुनः मुनि के सिर मे जोड़ दिया, मुनि पुनः ज्यों के त्यों हो गये। वह अश्वशिरा विद्या अभी तक प्रसिद्ध है। मुनियो! आपने जो मुझसे अश्विनी कुमारों को सिर कटा कर कैसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, यह प्रश्न किया था। इसका मैंने संक्षेप से उत्तर दिया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—'महाभाग! हमे अब वही पिछली कथा सुनावें। हाँ, तो पराजित देवों को जब श्रीमन्नारायण ने हड्डी मागने के लिये दधीचि मुनि के समीप जाने को कहा, तो उन्होंने क्या किया ?"

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो! अब मैं

आपको आगे की कथा सुनाता हूँ उसे आप श्रद्धासहित श्रवण कीजिये।

छप्पय

विष्णु कहें सुरराज काज ऋषिवर ई साधें।
तनय अथर्वा नित्य नियम तें हरि आराधें॥
नाहीं सुरपति करी विविधि विधि धमकी दी हीं।
यमजनि तें जो कह्यौ प्रतिज्ञा पूरी कीन्हीं॥
कही ब्रह्मविद्या सकल, हयसिर तें मुनि ऋषभ जी।
अश्वशिरा के नाम तें, है प्रसिद्ध अवतलक जी॥

नामापराधी की प्रबलनाम प्रपत्ति ही गतिहै

(३६७)

युष्मभ्य याचितोऽश्विभ्या धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।
ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ॥
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेज उपबृंहितः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ९ अ० ५४ श्लो०)

छप्पय

मिलि सब जाओ करो वन्दना ऋषि चरननि की ।
माँगो है के दीन अस्थि अति पावन मुनि की ॥
अरसि देइँगे कबहुँ मनें मुनिवर न करिङ्गे ।
तुम सब के हित विहँसि नेह तें देह तजिङ्गे ॥
उनकी तपमय अस्थि तें, सुघर वज्र बनि जायगो ।
वाई तें जा वृत्त को, सिर धड़ तें कटि जायगो ॥

श्रीमन्नारायण का नाम एक एसा अद्भुत रसायन है, कि उसका प्रयोग जहाँ भी किया जाय, जैसे भी किया जाय, वह

---

*देवताओं से भगवान् विष्णु कह रहे हैं—"देवताओं ! देखो धर्मज्ञमहामुनि दधीचि ऋषिसे यदि उनके शिष्य अश्विनी कुमार अथवा तुम लोग यदि उनके अङ्गों को मांगोगे तो वे अवश्य दे देंगे उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा एक श्रेष्ठ अस्त्र तैयार कर देंगे, उससे इन्द्र मेरे तेज से वृद्धि को प्राप्त होकर वृत्रासुर के सिर को काट डालेंगे ।

कभी व्यर्थ होनी ही नहीं। इन्द्र के वज्र को अमोघ बताया है, किन्तु कभी कभी वह भी व्यर्थ हो जाता है, श्री भगवान् को अपराजित बताया गया, किन्तु कभी कभी वे युद्ध छोडकर भागते देखे गये हैं। किन्तु भगवन्नाम क व्यर्थ नहीं होता। यह दूसरी बात है, कि पात्र भेद से देर स भले ही हो जाय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब भगवान् ने द ताओं से महामुनि दधीचि की अस्थि माँगने का प्रस्ताव कि तब वे बडे चिन्तित हुए। उन्हें इस बात की शङ्का भी हुई तपस्वी मुनि का दुबली पतली हड्डियों मे इतना दृढता कहाँ आगई, कि सुमेरु के समान लम्बे चौडे इस वृत्रासुर की झपट झेल सके। इसी शङ्काके वशीभूत होकर इन्द्र पूछने लगे—"प्रभ उन महामुनि दधीचि की अस्थियों में क्या विशेषता है ?"

यह सुनकर श्रीभगवान् हँस पडे और बोले—"अच्छ पहिले यह बताओ, कि जब तुम्हारे गुरुदेव बृहस्पतिजी तुम्ह परित्याग करके चले गये और असुरों ने तुम्हे स्वर्ग से निक बाहर किया, तो तुमने उन पर फिर से विजय प्राप्त करली ?"

इन्द्र ने कहा—"महाराज ! हमने लोकपितामह ब्रह्माजी आज्ञा से विश्वरूपजी को अपना गुरु बनाया, उन्होंने ह नारायण कवच का उपदेश दिया, उस कवच के प्रभाव से हमने दुर्मद आततायी असुरों को पराजित करके स्वर्ग निकाल बाहर किया।"

इसपर भगवान् बोले—"हाँ, यही बात है। तुम नाराय कवच के प्रभाव से ही जय लाभ कर सके थे, किन्तु जिस द्वारा तुम्हें यह अमोघ अस्त्र प्राप्त हुआ, उसी का तुमने अन्या

। वध कर दिया। यह तुमने नामापराध किया। ब्रह्महत्या का ो प्रायश्चित है, तुम चार स्थानों में ब्रह्महत्या को बाँट ही चुके, गगे भी ब्रह्महत्या हो जायगी, तो उससे भी अश्वमेधादि करके छूट जाओगे, किन्तु नामापराधका प्रायश्चित्त तो यही है कि प्रबल ाम का वेग ही तुम्हे इस विपत्ति से बचा सकता है। तुमने रम ज्ञानी नामाश्रयी विश्वरूप का वध किया है। यदि विश्व-रूप से भी बढकर उसके गुरु चाहे तो तुम्हे वृत्र के भय से बचा नकते हैं। क्योंकि सबल पाप निर्बल उपायों से नष्ट नहीं होता।"

इसपर इन्द्र ने पूछा—"भगवन्! विश्वरूप के गुरु कौन हैं? उन्हे यह नारायण कवच कहाँ से प्राप्त हुआ था, उन्हीं की चल कर अनुनय विनय करें?"

भगवान् ने कहा—"विश्वरूप के गुरु हैं, उसके पिता त्वष्टा यदि त्वष्टा भी चाहें, तो तुम्हें इस विपत्ति से नहीं छुडा सकते। नामापराधी की नामाश्रयी को छोडकर मैं भी रक्षा नहीं कर सकता।"

इस पर अत्यन्त उदास होकर इन्द्र ने कहा—"प्रभो त्वष्टा क्यों हमारी बात सुनने लगे। उनके ही पुत्र का तो हमने वध किया है। उन्होंने ही तो पुत्रशोक से पीडित होकर मुझे मारने के लिये वृत्रासुर को उत्पन्न किया है। वे तो मुझे मरवाना ही चाहते हैं।"

भगवान् हँसते हुये बोले—"देवेन्द्र! तुम्हे कोई मार नहीं सकता, क्योंकि तुमने नारायण कवच को जान लिया है। त्वष्टा ने भी रोष मे भरकर कर्मकाण्ड का आश्रय लिया। कर्मकाण्ड तो विधि के अधीन है, जहाँ विधि मे तनिक भी वैगुण्य हुआ, वहाँ सब करा कराया व्यर्थ हो जाता है। राक्षस यज्ञों में सदा छिद्र

देखते रहते हैं, विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही नष्ट हो
है। एक भी शब्द स्वर से, वर्ण, मात्रासे मिथ्या
पर उस सकल्प की पूर्ति नहीं कर सकता, जिसके निमित्त
यज्ञानुष्ठान आरम्भ किया गया है। यही नहीं वह वाक्य
बनकर यजमान का ही नाश करता है। महामुनि त्वष्ट
इस संकल्प से अग्नि में हवन किया था कि "इन्द्रका शत्रु
को मारने वाला वृद्ध को प्राप्त हो, उत्पन्न हो।" उच्चार
एक स्वर की भूल हो गई "इन्द्रशत्रो" उकार में उन्हीं उदात्त
उच्चारण करना चाहिये था। तब अर्थ होता है कि इन्द्र
मारने वाला शत्रु उत्पन्न हो। किन्तु भूल से इन्द्र के इकार
उदात्त उच्चारण कर गये, इस स्वर दोष से उसका अर्थ हुआ
रूप जो शत्रु उसकी वृद्धि को उत्पन्न हो। अर्थात् इन्द्र जिसे
दे। इस प्रकार कर्मकाण्ड की विधि हीनता के कारण वह
मार तो सकता नहीं। किन्तु तुमने नामापराध किया है। जि
नामापराध हो जाय उसे अधिक से अधिक संकीर्तन क
चाहिए। जितना नाम जप पहिले करता था उससे कहीं अ
धारा प्रवाह से अविश्रान्त प्रयोग करना चाहिये। विश्वरूप
बलवान उसके गुरु त्वष्टा हैं, वे तुम्हें इस नामापराध से मुक्त
सकते हैं। इस असुर भाव सम्पन्न वृत्र को भगा सकते हैं, कि
उनका भी तुमने अपराध किया है, वे भी तुमसे असन्तुष्ट
अतः तुम सब उनके भी गुरु की शरण में जाओ। विश्वरूप
वाला गुरु तुम्हें अवश्य ही इस विपत्ति से बचा सकेंगे।"

इन्द्र ने पूछा—"भगवन्! त्वष्टा मुनि के गुरु कौन हैं ? ज
जिनके द्वारा यह नारायण कवच प्राप्त हुआ था।"

भगवान् बोले—"त्वष्टा मुनिके गुरु वे ही महा मुनि दधीचि
हैं। दधीचि से ही यह विद्या विश्वरूप के पिता त्वष्टा को मिल

र त्वष्टाने यह अमोघ नारायणीय विद्या विश्वरूप को प्रदान है। अत वे चाहें तो इस वृत्र को ही नहीं इससे असुर भाव पन्न लाखों करोंडों असख्यों दैत्यो को मार सकते हैं।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! वे तो शात प्रकृति के तप-ी ठहरे, वे लडाई झगडे के चक्कर म क्य पडने लगे। वे हमारे थ युद्ध करने काहे को आवेंगे ?"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! तभी में कहता हूँ, तुम सब उनसे जाकर उनकी हड्डियाँ को माँग ो। उस बूढ़े का पुरानी हड्डियों में बडा सार भरा है। नारायण म उनकी हड्डी हड्डी म व्याप्त हो गया है, इससे वे हड्डियाँ परम वन तेज और कान्तियुक्त बन गई हैं। उससे जो वज्र बनेगा, ह तुम्हारे सदा काम म आवेगा। उससे तुम पर्वतों को चूर्ण कर कोगे, असुरों का सहार कर सकोगे, युद्ध म विजय प्राप्त कर कोगे।"

इस पर इन्द्र ने शकित चित्त से कहा—"यदि भगवन् ! मारे माँगने पर भा उन्होने अपनी हड्डियो का देना स्वीकार न या तो ?"

शीघ्रता के साथ भगवान् बोले—"अरे, तुम बडे शकित ित्त वाले हो ! हम कहते तो हैं, वे अवश्य परोपकार के लिये पने शरीर को दगे। उनकी पवित्र नामपूत अस्थिया से जो श्वकर्मा वज्र बनावेंगे उसमे मैं भी अपना वैष्णव तेज स्थापित र दूँगा। उन हड्डियों से केवल तुम्हारा वज्र ही न बनेगा, न्तु तुम्हारे खोये हुए—लुप्त हुए सभा अस्त्र शस्त्र उनकी हड्डियों फिरसे निकल आवगे। विविध अस्त्र शस्त्र बन जायँगे।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूतजा से पूछा—"सूतजी ! वताओं के अस्त्र शस्त्र लुप्त कैसे हो गये थे ? वे महामुनि

दधीचि की हड्डियों में कैसे आगये ? इस बात को सुनकर हृदय में बड़ा कौतूहल हो रहा है, यदि उचित समझें, हमारी इस शंका का समाधान कर दें ।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! यह एक बड़ी सुन्दर, बड़ी ही मनोहर, शिक्षाप्रद कथा है, उसे मैं आपके कहता हूँ। इसके श्रवण से आपकी शंका का समाधान जायगा और बहुत सी सुन्दर शिक्षायें भी मिलेंगी।

छप्पय

विश्वरूप ने तुम्हें कवच नारायन दीन्हों।
पितु त्वष्टा तें विश्वरूप द्विजवरने लीन्हों ॥
मुनि दधीचि ने दयो तपस्वी त्वष्टा कूँ पुनि।
अस्थिनि महँ बिँधि गयो भये अतिई पावन मुनि ॥
परोपकारी कूँ कहो, कौन कठिन जग काज है।
पर कारज के हेतु तो, तुच्छ देह, धन राज है ॥

—— ० ——

धीचि मुनिकी हड्डियोंमें देवताओंके दिव्यास्त्र

(३९८)

तस्मिन्विनिहते यूय तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।
भूयः प्राप्स्यथ भद्र वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० ९ अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

मुनि दधीचि ढिँग गये देव असुरनिकूँ जय करि ।
मुनितेँ बोले अमर महामुनि ! देवनि भय हरि ॥
इन अस्त्रनि तेँ हमनि असुर रिपु सब सहारे ।
अब ये सबई दिव्य अस्त्र हैँ व्यर्थ हमारे ॥
नष्ट असुर करि देइँगे, प्रभु इनकी रक्षा करहु ।
रहेँ सुरक्षित यहाँ पै, इनकूँ निज आश्रम धरहु ॥

दूसरों की धरोहर अपने समीपमें रखना, बैठे ठाले की विपत्ति सिर पर ले लेना है। यदि कोई विश्वास करके हमारे

❀ श्री भगवान देवताओं को आश्वासन देते हुए वृत्रासुर के वध का उपाय बताकर कहते हैं—"देवताओ ! वृत्रासुर के मारे जाने पर तुम अपने सब खोये हुए, लुप्त हुए अस्त्र शस्त्रों को फिर से प्राप्त कर सकोगे। जो मेरे प्रपन्न हैं, भक्त हैं, उनकी कोई हिंसा कर ही नहीं सकता। अब तुम्हारा कल्याण हो, तुम दधीचि मुनि के समीप जाओ।

पास रख गया तो, रात्रि दिन उसकी चिन्ता बनी रहती है। यदि वह नष्ट हो गई मन मे लोभ आ गया, तो मरकर नरक में जाना पडता है और विना दिये मर गये तो उस व्यक्ति के सम्बन्धी बनकर दूसरे जन्म मे ऋण चुकाना पडता है। इस प्रकार किसी वस्तु को अपने समीप रखना वडी विपत्ति का कार्य है।

एक कहानी है एक नगर मे दो सत रहते थे। एक तो गृहस्थी थे धर्माचार्य और बडे प्रतिष्ठित सदाचारी करके प्रसिद्ध थे। लोक मे उनकी वडी ख्याति थी। वडे बडे धनिक उनके शिष्य थे। दूसरे सत वडे विरक्त थे। सब लोग उन्हें पागल समझते थे। वे कूडे करकट मे जाकर बैठते नगे रहते और हाथ मे सुरा की बोतल लिये रहते। सब लोग तो उन्हे पागल समझते थे किन्तु ये धर्माचार्य उनमे आदर बुद्धि रखते थे। उन्हे यह विश्वास था, कि ये कोई अद्वितीय महापुरुष हैं। इन्होंने अपनी चर्या ही ऐसी बना रखी है।

उसी नगर मे एक बहुत धनिक महाजन था। उसकी धर्म पत्नी का देहान्त हो गया था। उसके एक अद्वितीय रूपलावण्य युक्ता षोडश वर्षीया पुत्री थी। महाजन का उसके प्रति अत्यत ही स्नेह था। वह इतनी सुन्दरी थी कि उसके समान रूपवती उस प्रात मे कोई कन्या नहीं थी। एक बार महाजन को कहीं बाहर जाने का काम पडा उन दिनों यातायात की सुविधाये आज के समान नहीं थी। महाजन को अकेले ही जाना था। अब उसे चिन्ता हुई, कि मैं इस कन्या को किसके पास छोड़ जाऊँ। उसे किसी का विश्वास ही नहीं होता था सोचते सोचते उसे ध्यान आया ये धर्माचार्य बड़े सदाचारी और प्रसिद्ध पुरुष हैं, इनके पास अपनी लडकी को मैं छोड़ जाऊँगा तो मुझे कुछ चिन्ता

न रहेगी।" यह सोचकर वह उन धर्माचार्य के समीप गया और अपने मनोगत भावों को कह सुनाया। धर्माचार्य कुछ काल तक सोचते रहे और अन्त में उन्होंने महाजन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया महाजन अपनी लड़की को उनके घर में छोड़कर चला गया। नियम ऐसा होता है कि जब तक विषय इन्द्रियों के सम्मुख नहीं होते तब तक हम विवेक द्वारा उनमें दोष देखकर चित्त को उनकी ओर से हटा लेते हैं। किन्तु अत्यंत आकर्षक विषय इन्द्रिया के सम्मुख हुए कि फिर मन वश में रहता नहीं मतवाले हाथी की भाँति दृढ़ लौह शृंखला को भी तोड़कर स्वच्छन्द हो जाता है। इसीलिये त्यागियों के लिये कहा गया कि वे विषयों से भरसक दूर रहें। उस अत्यंत सुन्दरी युवती लड़की को देखकर धर्माचार्य का चित्त चंचल हो उठा एक ओर तो धर्म संकट। एक पिता हमारे विश्वास पर बिना सदेह के अपनी लड़की को यहाँ छोड़ गया है उस पर कुदृष्टि करना पाप है। दूसरी ओर मन स्वतः ही उसकी ओर खिंचने लगा। धर्माचार्य बड़े धर्म संकट में पड़े जो लड़की पास में है उसे कहीं पृथक् भी नहीं कर सकते और धर्म से भी विचलित नहीं हो सकते। उनके मनमें द्वन्द युद्ध होने लगा। जब सब लोग सो गये तो वे चुपके से अकेले ही उठकर उन पागल महात्मा के समीप पहुँचे। वे एक घूरे पर बैठे थे चिथड़े लपेटे थे। हाथ में सुरा की बोतल थी। इन्हें देखते ही वे हँस पड़े और बोले—"ओहो! आप इतने बड़े धर्माचार्य होकर मेरे समीप रात्रि में अकेले कैसे आये ?"

धर्माचार्य उन्हें प्रणाम करके बैठ गये और कहने लगे— "भगवन्! मैं समझता हूँ आप उच्चकोटि के सत हैं फिर आप

ऐसे निषिद्ध आचरण क्यों करते हैं। सुरापान करना तो पाप है।"

यह सुनकर वे फक्कड़ संत खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"हम इसलिये ऐसा निषिद्ध आचरण करते हैं कि कोई अपनी सुन्दरी रूपवती युवती कन्या को हमारे यहाँ विश्वास पर न छोड़ जाय देखिये महाशय मेरी इस बोतल में सुरा नहीं है शुद्ध गङ्गा जल है। मैं तो वैसे ही इसे साथ लिये रहता हूँ। संसारी लोग बड़े स्वार्थी होते हैं। हमारे यम, नियम, व्रत, धर्म, सदाचार का ये अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। साधु पुरुषों को सदा सचेष्ट रहना चाहिये।"

यह सुनकर धर्माचार्य ने यह निश्चय किया कि दूसरों की वस्तु को न्यास रूप में धरोहर की भाँति रखना निरापद नहीं है जानबूझ कर विपत्ति मोल लेना है।

श्रीसूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे यह बात पूछी थी कि दधीचि मुनि की हड्डियों में देवताओं के अस्त्र शस्त्रों की शक्ति कहाँ से आ गई सो, मैं आपके सम्मुख इस इतिहास को कहता हूँ।

एक बार बड़ा भारी देवासुर संग्राम हुआ उसमें पराजित हो कर असुर भाग गये देवताओं की विजय हुई इसपर देवताओं को हर्ष हुआ। अब उन्हें एक चिन्ता हुई, वे सोचने लगे—"जिन दिव्य अस्त्र शस्त्रों के प्रभाव से हमने अपने शत्रु दैत्य, दानव, असुर तथा राक्षस आदि को जीता है ये अस्त्र यदि सुरक्षित न रहे तो हमें पुन हारना पड़ेगा। स्वर्ग में हम रखते हैं तो उनका पता लगाकर दैत्य दानव उन्हें चुरा ले जायँगे नष्ट कर देंगे, या उन्हीं से हमें पराजित कर देंगे। अत इनको कहीं सुरक्षित रख देना चाहिये। ऐसे पुरुष के पास रखें जो धर्मात्मा हो,

सत्यवादी हो, तपस्वी और तेजस्वी हो, जिससे इनकी रक्षा मे किसी प्रकार का सदेह न रह जाय।"

बहुत से ऋषियों की बात सोचते सोचते देवताओं को सत्य-वादी महामुनि दधीचि का नाम स्मरण हो आया, ये मुनि बडे धर्मात्मा हैं कभी भूल मे स्वप्न मे भी असत्य नहीं बोलते। सदा तप स्वाध्याय में निरत रहते हैं। शत्रु मित्र को एक समान समझते हैं। परम परोपकारी और दीनदुखियोंका दु ख दूर करनेवाले हैं। यदि इनकी सरक्षता मे ये अस्त्र शस्त्र रहे तब तो अवश्य ही सुरक्षित रह सकते हैं यह सोचकर विजय के उल्लास से प्रसन्न हुए सभी देवता अपने अपने अस्त्रों को लेकर दधीचि मुनिके आश्रम पर पहुँचे।

कलकल निनादिनी भगवती गङ्गा के तट पर महर्षि का शान्त एकान्त निरापद आश्रम था, उसमे बहुत से सुन्दर सुन्दर पुष्प और फलों वाले वृक्ष थे। मुनि के तपस्या के प्रभाव से सभी वृक्षों के पत्ते चिकने और सुदर थे। वन के जीव जन्तु बिना वैर भाव और भय के मुनि के आश्रम में विचरण कर रहे थे। सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। मुनि की तपस्या के प्रभाव से दैत्य दानव राक्षस तथा असुर आदि किसी शत्रु का वहाँ भय नहीं था। सम्पूर्ण आश्रम लिपा पुता स्वच्छ और निर्मल था। उसमे स्थान स्थान पर देवताओं की पीठें बनी हुई थीं अग्नि शाला में पूजित अग्नि प्रदीप्त थी। उन प्रज्वलित वैदिक अग्नियों के बीच में दधीचि मुनि भी अपने तप तेज के कारण अग्नि के समान ही प्रतीत होते थे। मुनि के कार्यों मे उनकी भार्या सदा अव्यग्र भाव से सहयोग दिया करती थी। उस पतिप्राणा, पति व्रता यशस्विनी मुनि पत्नी का नाम गभस्तिनी था। उसका जन्म श्रेष्ठ वश में हुआ था। महाराजा की पुत्री थी इनकी एक

लोपामुद्रा भगवान् अगस्त की पत्नी थी उसी प्रकार ये थीं बड़ी सती साध्वी और सदाचारिणी थीं। अपने पति को साक्षात परमेश्वर मानकर पूजती और उनकी प्रत्येक आज्ञा का बिना विरोध किये हृदय से प्रसन्नता पूर्वक पालन किया करती थीं। उस पतिव्रता के तेज से सभी प्राणी परिचित थे।

देवताओं ने आश्रम पर पहुँच कर दधीचि मुनिके दर्शन किये। अपने आश्रम पर एक साथ ही रुद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार, यम, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, वायु अग्नि आदि देवों को देखकर मुनि सहसा अपने आसन से उठ कर खड़े हो गये और उन्होंने देवताओं का सत्कार किया। सभी को पृथक् पृथक् आसन दिये। पाद्य अर्घ्य आचमनीय जल और कन्द मूल फल भेंट करके सभी की विधिवत पूजा की। दोनों से कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर मुनि ने देवताओं से विनीत भाव से पूछा—"देवताओं! आज आप सबने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। आपके पधारने से मेरा आश्रम पावन बन गया। आप सबने किस कारण कष्ट किया। क्या आप मुझे कोई सेवा समर्पित करके कृतार्थ करना चाहते हैं? क्या इस नश्वर शरीर से किसी का कुछ उपकार हो जाय, तो इससे बढ़कर कोई भी इस देह का उपयोग है? यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो उसे आप निःसंकोच होकर कहें।

मुनि की ऐसी मीठी वाणी सुनकर देवताओं ने कहा—'मुनिवर! यह प्रसन्नता की बात है, कि आप हम पर सन्तुष्ट हैं एक तो हम विनय के कारण ही अत्यन्त प्रमुदित थे, फिर आज आपके दुर्लभ दर्शन पाकर तो हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, हमारे रोम रोम खिल उठे। ब्रह्मन्! हमने अपने,शत्रु असुरों को अपने

दिव्य अस्त्र शस्त्रों के प्रभाव से हरा दिया है अब हम निष्कटक हो गये हैं। किन्तु अब हमें सबसे बडी चिन्ता इन अस्त्र शस्त्रों की रक्षा के लिये है। यदि ये सुरक्षित न रह सके तो असुर फिर आकर हमें पराजित कर देंगे।"

मुनि दधीचि ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"बडी अच्छी बात है, आप सबने विजय लाभ किया। यह बडा मगल प्रद सुखद समाचार है। आप अपने अस्त्रों को स्वर्ग में गुप्त स्थान में रखकर उनकी सावधानी से रक्षा करें।"

देवताओं ने कहा—"ब्रह्मन्! स्वर्ग में इन सब दिव्य अस्त्र शस्त्रों की रक्षा हो ही नहीं सकती। हमारे शत्रु असुर बडे मायावी हैं। जहाँ उन्हें पता लगा नहीं कि वे चुरा लेंगे, नष्ट तथा तेजोहीन कर देंगे।"

दधीचि मुनि ने गभीर होकर कहा—"तब तुम लोग मुझसे क्या चाहते हो ?"

देवताओं ने हाथ जोडकर कहा—"भगवन्! हम यह चाहते हैं, ये अस्त्र शस्त्र आपके आश्रम में रहें तो सुरक्षित रह सकते हैं। आपसे सब डरते हैं। आपकी तपस्या के प्रभाव से दैत्य, दानव, यक्ष, राक्षस, असुर भी यहाँ फटकने नहीं पाते। अत. कृपा करके हमारे अस्त्रों को आप धरोहर के रूप में रखकर हमारे दु ख को दूर करें हमें निर्भय करें।"

देवताओं की ऐसी विनय सुनकर परोपकारी दयालु मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, छोड़ जाओ अपने सभी दिव्य अस्त्र शस्त्रों को। उनकी रक्षा मैं करूँगा।"

अब तक मुनि पत्नी गभस्तिनी चुपचाप खड़ी देवता और मुनि की बातें सुन रही थीं। अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने दीनभाव से कहा—"स्वामिन्! आप यह बैठे ठाले बिना बात

अपने सिर पर विपत्ति का बोझा क्यों लाद रहे हैं। भगवन्! आपका न कोई शत्रु है न कोई मित्र। आपको जय विजय समान है। असुर भी आपका सम्मान करते हैं, देवता भी, फिर आप अकारण असुरों से वैर क्यों ठानते हैं।"

मुनि ने कहा—"मैं असुरों से वैर कहाँ कर रहा हूँ। देवताओं के दुःख मे उनकी दयावश सहायता कर रहा हूँ। असुरों से वैर करना मेरा उद्देश्य नहीं है।"

मुनि पत्नी ने कहा—"ब्रह्मन्! अपने शत्रु को जो सहायता देता है बुद्धिमान् उसे भी शत्रु के समान समझते हैं। आप देवताओं को सहायता दे रहे हैं इससे असुर आपसे द्वेष मानेंगे वैरभाव बढ़ेगा आपकी समता नष्ट हो जायगी। जिन्हे ससार के व्यवहार करने हैं, उनकी बात तो है दूसरी, किन्तु जिन्होंने श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा परमार्थ तत्व का निर्णय कर लिया है, जो यथार्थ तत्व मे सदा स्थित हैं, जिन्हें ससारी कार्यों मे कोई आसक्ति नहीं उन्हें ऐसे चक्कर मे पडना उचित नहीं बिना बात दूसरो के निमित्त सकट सिर पर लाद लेना यह तो मुझे रुचिकर प्रतीत होता नहीं।"

हँसते हुए मुनि ने कहा—"प्रिये! इसमे अपनी हानि ही क्या है। हमे कुछ लेने तो हैं नहीं। न हम इनका कुछ उपयोग करेंगे। रखे रहेंगे, देवता जब आकर माँगेंगे दे देंगे।"

गभस्तिनी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"महाराज! रखे रहने से ही तो काम न चलेगा। आपको इनकी रक्षा करनी पडेगी। अस्त्रों को रखते हैं। असुर आपसे द्वेष करने लगेंगे। मान लो किसी कारण से चोरी ही चले गये, तो इतने दिन की श्रमपूर्वक की हुई रक्षा सब व्यर्थ चली जायगी,

देवता आपसे द्वेष करने लगेंगे अत मेरी सम्मति मे प्रभो, दूसरों की वस्तुओं मे ममत्व करना उचित नहीं। आप देवताओं को असुरों के विरुद्ध सहायता दे रहे हैं।"

मुनिने कहा—"अच्छा, सहायता ही सही। दीन दुखियों की की सहायता करना कोई बुरी बात तो है नहीं। अपने से किसी का कुछ उपकार हो जाय, तो अतिउत्तम है।"

शीघ्रता के साथ मुनिपत्नी ने कहा—"भगवन्! मैं सहायता देने को मना नहीं कर रही हूँ। परोपकार तो सज्जनों का भूषण ही है। किन्तु इस प्रकार की धरोहर रखना यह परोपकार नहीं है। अपने पास धन हो और कोई दीन दुखी आ जाय, तो उसे तत्क्षण विदा कर देना चाहिये। धन न हो तो साधु पुरुषों को मन, वाणी और शरीर से ही दूसरों की सहायता करनी चाहिये। इस प्रकार धरोहर रखने की वस्तु की सदा विद्वानों ने निन्दा की है। इन्हीं देवराज इन्द्र ने धरोहर रखकर एक तपस्वी को भ्रष्ट कर दिया था।"

मुनि ने पूछा—"इन्द्रने तपस्वी को भ्रष्ट कैसे किया? इस कथा को मुझे सुनाओ।"

गभस्तिनी ने कहा—"ब्रह्मन्! एक अरण्य में एक परम तपस्वी मुनि रहते थे। वे कभी हिंसा नहीं करते थे, घोर तपस्या में सदा निरत रहते थे। उनकी ऐसी उग्र तपस्या को देखकर इन देवराज इन्द्र को बडा भय हुआ, कि कहीं यह तपस्या के द्वारा मेरा इन्द्रासन न छीन ले। अत इन्होंने उसके तप में विघ्न डालने का निश्चय किया। एक दिन ये एक योद्धा का वेश बना कर उन तपस्वी के आश्रम पर गये। तपस्वी ने इनको अतिथि समझकर सत्कार किया, इन्होंने विनीत भावसे कहा—"ब्रह्मन्!

मुझे एक स्थान मे बिना खड्ग के जाना है। जब तक मैं लौटकर न आऊँ तब तक आप इस खड्ग की रक्षा करते रहें।"

भोले भाले तपस्वी मुनि इनकी चिकनी चुपड़ी बातों में आ गये। उन्होंने खड्ग रख ला। य वहाँ से चले गये। अब तो मुनि को चिन्ता रहने लगी, कहीं खड्ग खो न जाय। दूसरे का धरोहर है, अत. वे कदमूल, फल लेने जब वन मे जाते, तो उस खड्ग को भी साथ साथ ही रक्षा के निमित्त ले जाते थे।"

मुनिपत्नी गभस्तिनी कहती है—"ब्रह्मन् हाथ मे लेखनी हो तो अकारण ही कुछ लिखने की इच्छा होती है। वैद्य सम्मुख हो, तो बिना रोग के ही नाड़ी दिखाने को चित्त चाहता है, इसी प्रकार हाथ मे अस्त्र शस्त्र लाठी डंडा हो तो, पेड पत्ता/ कुत्ता बिल्ली पर ही चला देते हैं। निरन्तर खड्ग साथ रहने से मुनि के मन मे हिंसा जाग्रत हुई, पहले तो वे आत्मरक्षा के निमित्त उसका उपयोग करने लगे, फिर मांस के लोभ से जीवों को मारने लगे। इन्द्र तो यह चाहते ही थे, तपस्वी से वे हिंसक बन गये। उस खड्ग की रक्षा के कारण ही उनका तप नष्ट हो गया। अत प्राणनाथ! मेरी सम्मति नहीं है, कि आप इन अस्त्रों को यहाँ रखें।

पतिव्रता गभस्तिनी की ऐसी स्पष्ट बातें सुनकर देवताओं का तो हृदय धडकने लगा वे लज्जित से हो गये, गभस्तिनी से वे अत्यधिक डरने लगे। उनका मुख फक पड गया। देवताओं को दु खी देखकर मुनि को दया आ गई। वे अपनी प्यारी पत्नी से बोले—"कल्याणि! देख, मैंने इन बिचारे देवताओं को दुखी देखकर यहाँ अस्त्र शस्त्र रखने का वचन दे दिया है, अब यदि न रखूँगा तो मैं झूठा बनूँगा मुझे चिन्ता बनी रहेगी,

चित्त में नाना सकल्प विकल्प उठते रहेंगे। साधु पुरुष जिसे जो वचन देते हैं उसका पालन प्राण देकर भी करते हैं। अत. तू मुझे अब इस काम से रोके मत।"

पतिव्रता स्त्री अपने पति की इच्छा के प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकती है। उसने सोचा कोइ भी मनुष्य आने वाली विपत्ति को पुरुषार्थ से टालने मे समर्थ नहीं। दैव की गति दुर्निवार है। यही सब सोच समझकर उसने फिर विरोध नहीं किया। देवता अपने अपने दिव्य अस्त्र शस्त्रों को रखकर प्रसन्न होते हुये स्वर्ग को चले गये। इधर मुनिवर उन अस्त्रों की बडी सावधानी से रक्षा करने लगे। असुर भी घात मे रहने लगे कि किसी प्रकार मुनि से लेकर इन अस्त्र शस्त्रों को नष्ट कर दें। किन्तु मुनि की तपस्या, तेज के कारण उनका साहस नहीं होता था। इस प्रकार अस्त्रों को रखे रखे देवताओं के वर्षों से हजार वर्ष हो गये। देवता फिर अस्त्र लेने आये ही नहीं।

अब बहुत दिन हो गये तो मुनि ने अपनी पत्नी से कहा—"कल्याणी! तुम्हारी बात ठीक निकली। आजकल दैत्य मुझसे द्वेष करने लगे हैं। वे सर्वदा अस्त्रों की घात मे रहते हैं, इन्हें चुरा लें। देवता यहाँ से अस्त्रों को ले जाना नहीं चाहते। अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ?"

पतिव्रता ने हाथ जोडकर दीनता से कहा—"प्रभो! मैंने तो यही निवेदन किया था। मैं क्या बताऊँ आप सर्वज्ञ हैं सर्व-समर्थ हैं, जैसा उचित समझें वैसा करें।"

अपनी पत्नी की ऐसी बात सुनकर धर्म के मर्म को जानने वाले मन्त्रद्रष्टा सर्व समर्थ मुनि ने उन दिव्य अस्त्रों को मन्त्रों द्वारा जल में धोया। उनकी जितनी भी दैविक शक्ति थी,

उसे खींचकर मुनि ने जल में स्थापित किया और उस जल को वे पी गये। अब उस सर्वास्त्रमय परम पवित्र तेजयुक्त जल को पीकर मुनि पचा गये। वह तेज उनकी अस्थियों में व्याप्त हो गया। तेज निकल जाने से वे धातु के अस्त्र शस्त्र शक्तिहीन होकर कालान्तर में नष्ट होगये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसी कारण दधीचि मुनि की अस्थियों में सभी अस्त्र शस्त्र विद्यमान थे। तभी भगवान् ने देवताओं को मुनि के अस्थि से वज्र तथा दूसरे अस्त्र शस्त्र बनाने की आज्ञा दी भगवान् की आज्ञा पाकर जिस प्रकार देवता उनसे उनकी अस्थि माँगने गये, उस प्रसङ्ग को मैं आगे आपसे कहूँगा।"

छप्पय

स्वीकारी सुर विनय अस्त्र मुनि ने धरि ली हैं।
गभस्तिनीतें डरे देव मुनि निभय की हैं॥
सुर लैबे नहिं गये न्यास रक्षाके भय तें।
पीये मुनि सब धोय पचाये अपने तप तें॥
ते अस्थिनि महँ बिधि गये, वज्र सरिस सबरी भई।
शुद्ध हतीं तप तें प्रथम, परम शुद्ध अब ह्वै गई॥

— ❀ —

दधीचि मुनि से देवताओं की देहयाचना।

(३९६)

अपि वृन्दारकायूयन जानीथ शरीरिणाम्।
संस्थाया यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥
जिजीविषूणा जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः।
क उत्सहेतत दातु भिक्षमाणाय विष्णवे ॥
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ३,४, श्लो०)

छप्पय

ताही तें हरि कही अस्थि मुनि की ले आओ।
फिरितें अपने अस्त्र शस्त्र अरु वज्र बनाओ॥
हरि आयसु स्वीकारि चले सुरमुनि ढिँग तबई।
पढ़ी पढ़ाई बात सुनाई देवनि सबई॥
सुनि दधीचि बोले विहँसि, कठिन फन्द तनु नेह को।
माँगे चाहें विष्णुई, देवै दुर्लभ देह को॥

सरलता से—बिना आशा निराशा की प्रतीक्षा की जो वस्तु प्राप्त हो जाती है उसकी प्राप्ति में उतना सुख नहीं प्राप्त होता

देवताओं ने जब दधीचि मुनि से उनकी अस्थियों को मांगा तो कहने लगे—"अरे देवताओ! क्या तुम लोग इस बात को नहीं जानते कि शरीरधारियों के लिये देह त्याग करने में अचेत कर देने वाला दुःसह दुख होता है। संसार में जो जीवित रहना चाहता है, ऐसे

जो वस्तु जितनी ही प्रतीक्षा के पश्चात् प्राप्त होती है, उत
आनन्द वर्धक मानी जाती है। खिलवाड़ में बच्चे को बुल
वह आता नहीं, हम बार बार उसे बुलाते हैं, वह हँसता है,
हिलाता है, छूकर भाग जाता है। कभी अवसर पाते ही हम
पकड़ लेते हैं, गोद में बिठाकर मुँह चूमकर प्यार करते हैं, वह
खिलखिला पड़ता है, अपने को भी प्रसन्नता होती है। वहो
बच्चा बार बार गोद में आने से मना कर रहा था, तो उस
अभिप्राय यह नहीं था, कि मैं गोद में न आऊँ। गोद में आ
को वह भी स्वयं उत्सुक था, किन्तु बार बार मना करने
इच्छा को बलवती बना रहा था, उसकी वृद्धि कर रहा था।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन! पराजित दुखित दे
ताओं की विनती सुनकर भगवान् प्रकट हुए थे और उन्हें स
सम्मति देकर कि तुम महामुनि दधीचि की अस्थि माँग लाओ
उसी से इन्द्र का वज्र और तुम सब के अस्त्र शस्त्र बनेंगे।" देव
ताओं के देखते देखते वहीं अन्तर्धान हो गये।

भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर सभी देवता मिल जुलकर
महामुनि दधीचि के आश्रम पर पहुँचे। उस समय महामुनि
दधीचि अपने सभी नित्य कर्मों से निवृत्त बैठे थे। शरद् ऋतु
की समाप्ति का समय था। जिस पुण्यतोया सरिता के समीप
मुनि का आश्रम था, वहाँ से इस वर्ष धारा बहुत दूर चली गई
थी। मुनिपत्नी पतिव्रता गभस्तिनी सब कर्मों से निवृत्त होकर
कुछ छोटे ब्रह्मचारियों और गौओं को साथ लेकर मध्या
न्होत्तर गंगा के समीप चली जातीं। वहाँ गौओं से बछड़ों को

पुरुषों को देह अत्यन्त ही प्रिय होती है। उसे देने का साहस कौन कर
सकता है फिर चाहे साक्षात् विष्णु भगवान् ही आकर क्यों न माँगें।

न्हिलातीं। बर्तनों को मलतीं वस्त्रों को धोतीं, जल भरतीं और लेकर तब वह सायंकालीन सन्ध्या तक लौटकर आश्रम में आता। देवता उस पतिव्रता के प्रभाव और स्वभाव से परिचित थे। वे यह भी जानते थे, कि सती गभस्तिनी अपने पति की प्राणों की रक्षा के निमित्त सब कुछ कर सकती है। अपने प्राणों की भी आहुति दे सकती है। हमें शाप देकर भस्म कर सकती है। इसीलिये वे उस सती से बहुत डरते थे। रसोई के बर्तनों गौओं और ब्रह्मचारियों को लेकर ज्योंही मुनि पत्नी सरिताकी ओर चली त्यों ही देवताओं ने अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हुये, कपट की हँसी हँसते हुये मुनि के समीप जाकर उन्हें दण्डवत् की।

आज चिरकाल के अनन्तर देवताओं को अपने आश्रम पर देखकर मुनिश्रेष्ठ दधीचि अत्यन्त ही प्रसन्न हुये और उनकी विधिवत् पूजा करके कुशल पूछने लगे। मुनि बोले—"देवताओं तुम लोग मुझे भूल गये? कहो, सब कुशल मङ्गल है न?"

हाथ जोड़े हुये दीनता प्रकट करते हुये देवताओं ने विनीत भाव से कहना आरंभ किया कुशल कहाँ है भगवन्! कुशल होती, तो हम आपके दर्शन करने नहीं आते? महाराज जबसे आप के आश्रम से हम गए, तब से एक न एक झंझट लगा ही रहता है। ये असुर हमें सुख पूर्वक रहने नहीं देते। सदा वैर भाव स्थापित करके विग्रह बनाये रखते हैं। आज कल हम बड़े दुखी हैं। वैसे तो बहुत दिनों से दर्शन करने की इच्छा हो रही थी, किन्तु आज तो हम अपना दुःख सुनाने ही श्रीचरणों में उपस्थित हुए हैं।"

दधीचि मुनि ने कहा—"अरे, देवगण! तुम लोगों को क्या कष्ट है? अपनी विपत्ति का कारण मुझे बताओ।"

उदास होकर इन्द्र बोले—"क्या बतावें भगवन्! कल तो हम घर द्वार से हीन असुरों द्वारा पराजित हुए मारे मारे फिर रहे हैं। हमारे पास दिव्य अस्त्र शस्त्र भी नहीं। उन सब को आपके समीप रख गये थे। अब जब पराजित हुए तब उनकी याद आई।"

कुछ लज्जित होकर मुनिवर बोले—"देवताओं! देखो तुम्हारे वर्षों से सहस्र वर्षों तक मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा। तुम लोग लौटे ही नहीं थे। अत्यधिक समय पाकर ससारी सभी वस्तुएँ शक्तिहीन होने लगती हैं। मैंने देखा चिरकाल तक कुछ भी उनका उपयोग प्रयोग न होने के कारण ये सब शक्तिहीन हुये जा रहे हैं, तो मैंने उनकी सम्पूर्ण शक्ति को जल मे आकर्षित कर लिया और उस सर्वास्त्रमय अभिमन्त्रित पावन जल को मैं पी गया। मेरी समस्त हड्डियों मे उन सब अस्त्र शस्त्रों का तेज व्याप्त हो गया। अत देवताओ! मैं लज्जित हूँ कि तुम्हारी धरोहर की रक्षा न कर सका। मेरी इच्छा न्याय अपहरण की नहीं थी। अब आप लोग जैसा कहे।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"नहीं भगवन्! हम तो कुछ नहीं कहते। हम सब तो समझ ही रहे थे, कि इतने दिनों में अस्त्र शस्त्र सभी शक्तिहीन हो गये होंगे, तभी तो हम इतनी विपत्ति पड़ने पर भी आपके समीप न आकर शेषशायी भगवान् श्रीमन्नारायण की शरण गये और उनके चरणों में अपना दुःख निवेदन किया। हमारा दुःख सुनकर उन्होंने एक विचित्र आज्ञा दी, जिसे हमें आपके सम्मुख उसे कहने में भी बड़ी भारी लज्जा लगती है। अत्यन्त सकोच होता है।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए अपनापन दिखाते हुये मुनिवर बोले—'अरे, देवताओ सकोच की कौन सी बात

है। भगवान् ने क्या आज्ञा दी मुझे बताओ। अपने आत्मीयों से लज्जा थोड़े ही की जाती है।"

इस पर इन्द्र ने कहा—"महाराज! है तो अत्यन्त दोष की ही बात किन्तु अर्थी तो दोषों को देखता नहीं। उसका लक्ष्य तो होता है अपने स्वार्थ की सिद्धि करना। इसीलिये इच्छा न रहने पर भी हमे कहना ही पड़ता है। भगवान् ने कहा है—संसार मे इस समय दधीचि मुनि की भाँति ज्ञान, विज्ञान मे पारगत, तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी, परोपकारी, सर्वहितकारी, त्यागी, विरागी दूसरा मुनि कोई है ही नहीं। वे सभी मुनियों के मुकुट मणि हैं। साधु समाज के चूड़ामणि हैं, उन्होंने इतनी घोर तपस्या की है कि उनकी समस्त अस्थियाँ तपोमय वन गई हैं। तप से पूत होने के साथ ही साथ उनमे समस्त अस्त्र शस्त्र का तेज भी व्याप्त हो गया है, यदि उन अस्थियों से विश्वकर्मा एक वज्र बनावें तो उससे तो वृत्रासुर का संहार हो सकता है, इसके अतिरिक्त वृत्रके वधका—विपत्तियों से छूटने का—दूसरा कोई उपाय है ही नहीं।"

यह सुनकर मुनिवर दधीचि हँसते हुए बोले—"अरे, शरीर में से अस्थियाँ ही निकल जाँयगी तो फिर शरीर टिक ही कैसे सकता है। अस्थियों से ही तो यह ढाँचा वना है। हड्डी दे देने का अर्थ तो यह होता है, प्राणों का दान दे देना, शरीर का त्याग कर देना।"

देवताओं ने शंकित चित्त से कहा—"इसे तो भगवन् आप ही समझ सकते हैं।

खिलखिलाकर हँसते हुए मुनि ने कहा—"अरे, इसमें समझने का कौन सी वात है भैया! इसे तो वधा भी समझ सकता है कि हड्डियों के देने का अर्थ शरीर दे देना-मृत्यु को

स्वेच्छा से आलिङ्गन करना। शरीर कुछ घास फूस तो है नहीं जो बिना विचारे उठाकर दे दिया जाय। जो संसार में जीवित रहना चाहता है, वह शरीर देने की बात तो पृथक् रही अपनी एक उँगली को भी स्वेच्छा से कटवाना न चाहेगा।"

इन्द्र ने कहा—"हाँ महाराज! यह तो हम सब समझते हैं, हमें तो भगवान् ने जो आज्ञा दी थी, उसे ही आपके सम्मुख दुहरा दिया। हमने अपनी ओर से एक शब्द भी कुछ नहीं कहा ऐसी भगवान की आज्ञा है, अब आप जैसा उचित समझें।"

व्यंग की हँसी हँसते हुए दधीचि ऋषि बोले—"अरे भैया, ब्रह्माजी की आज्ञा हो या विष्णु जी की अपना शरीर कौन दे सकता है? देह तो चाहे सूकर कूकर की क्यों न हो। वृद्धावस्था से जर्जरित तथा रोगों से ग्रस्त ही क्यों न हो, कोई भी जीवित रहने की इच्छा वाला पुरुष स्वेच्छा से अचेतन करने वाली—शरीर से प्राणों को पृथक् बना देने वाली मृत्यु को स्वीकार नहीं कर सकता।"

मुनि की ऐसी युक्ति बातें सुनकर देवताओं का मुख तो फक पड गया। वे समझ ही न सके, कि महामुनि हँसी कर रहे हैं। स्वार्थी का हृदय बहुत ही शंकित होता है। याचक का अन्तःकरण सदा डावा डोल होता है। जिस समय वह माँगने को चलता है, उसी समय वह मृत्यु को आलिंगन कर लेता है। प्राणहीन शव होकर मानापमान की कुछ भी चिन्ता न करके तब किसी के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ता है याचक मृतक से भी अधिक घृणास्पद, तृण से भी अधिक हलका और वेदनिंदक से भी अधिक

नीच तथा क्रोध से भी अधिक अनादरणीय माना जाता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"मुनियो! जब अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है और अपने में पुरुषार्थ तथा शक्ति नहीं होती, तो स्वार्थी पुरुष धर्म का आश्रय लेते हैं। उपदेशक बनकर परोपकार की शिक्षा देते हैं। इसी न्याय से देवगण दधीचि मुनि को परोपकार का महत्त्व बताते हुए धर्म की बातें कहने लगे।

छप्पय

स्वेच्छा तें नहिं जीव देह अपनी कूँ त्यागे।
पापी, रोगी, मूढ़, देह सब कूँ प्रिय लागे॥
सह दुसह दुख किन्तु मृत्यु तोऊ भयकारी।
क्यों तुम माँगो देव! देह की अस्थि हमारी॥
बोले सुर स्वारथ सहित साधु सदा परहित निरत।
दुखित देव सब आप प्रभु, दुखियनि दुख मेंटत सतत॥

———

परोपकारी को कुछ भी अदेय नहीं

(४००)

किंतु तद्दुस्त्यज ब्रह्मन्पुंसा भूतानुकम्पिनाम् ।
भवद्विधाना महता पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ५ श्लो०

छप्पय

जिनको व्रत है सतत दया जीवनि पै करिबो ।
उनकूँ एक समान जगत् महँ जीवो मरिबो ॥
परकारज हित हपि साधु प्राननि कूँ देवें ।
दाता देहिँ अनित्य नित्य बदले महँ लेवें ॥
कहें सतजन जगत् महँ, एक त्याग ई श्रेय है ।
पर उपकारी के लिये, नहिँ कछु वस्तु अदेय है ॥

छोटा "स्व" स्वार्थ है बड़ा "स्व" परमार्थ है। स्वार्थ और परमार्थ मे इतना ही अन्तर है। जो स्वार्थ शरीर तक ही सीमित है—"मेरा शरीर सुखी रहे मैं दुर्बल न होऊँ, इस वस्तु को मैं ही खा लूँ, मेरे शरीर की ही रक्षा रहे" यह सब क्षुद्राविछ

---

*देवतागण महामुनि दधीचि से कह रहे हैं—'ब्रह्मन् जिनके शुभ कर्मों की पुण्यश्लोक पुरुष भी प्रशंसा करते हैं तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों पर सदा अनुकम्पा किया करते हैं, ऐसे आप जैसे महापुरुष किस वस्तु का त्याग नहीं कर सकते हैं। परोपकारियों के लिये कौन सी वस्तु अदेय है?

स्वार्थ की भावना है अब इस ओर "स्व" को बढाया जाय मेरी स्त्री सुखी रहे, मेरे बच्चे सुखी रहें, मेरे परिवार वालों को कष्ट न हो" यह अपेक्षाकृत देह स्वार्थ से श्रेष्ठ है। मेरा नगर सुखी रहे, मेरे बन्धु बान्धव परिवार के प्रवासी नगर निवासी परिचित प्रसन्न हों, यह उससे बड़ा है। मेरे प्रान्तवासी देशवासी ही प्रसन्न रहें और चाहें मेरे जीते यह उससे भी बड़ा "स्व" है। सब प्राणी सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सभी का कल्याण हो, कोई दुखी न हो। यह सब सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा स्वार्थ है इसी का नाम परमार्थ भी है। ऐसे भाव रखने वाला ही मोक्ष का अधिकारी है। सर्व भूतों के हित मे निरत रहनेवाले परोपकारी पुरुषों के समीप अपनी कहलाने वाली तो कोई वस्तु ही नहीं। उनका तन, मन, धन सर्वस्व दूसरों के उपकार के लिये है। ऐसे परोपकारी पुरुषों की कभी भी मृत्यु नहीं होती वे सदा अमर बने रहते हैं। जिसकी कीर्ति जीवित है। वह मरकर भी जीवित है। जिसकी कीर्ति चारों ओर फैली है वह जीता हुआ भी मृतक सदृश है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब हँसी हँसी मे महामुनि दधीचि ने प्राणों के दान को दुस्त्यज बताया तब तो देवता उन्हें परोपकार का महत्व बताते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन्! जैसी बात आप कह रहे हैं वैसी संसारी लोगों को शोभा देती है। यह सत्य है, अपनी अपनी देह सभी को प्यारी होती है। प्राणों की रक्षा करनी चाहिये, किन्तु आप जैसे परोपकारी महापुरुष इसके अपवाद हैं। आपके मुख से ये बातें शोभा नहीं देती। परोपकारी पुरुषों के लिए तो ससार में कुछ अदेय वस्तु है ही नहीं। धर्म की देवताओं की रक्षा करना तो

महापुण्य कार्य है परोपकारी पुरुष तो पशु पक्षियों के लिये प्राण दे देते हैं देखिये महाराज शिवि ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राणों को दे दिया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने सूत जी से पूछा—"सूत जी! महाराज शिवि ने कपोत के लिये कैसे प्राण दे दिये इस कथा को हमें सुनाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न करने पर सूतजी कहने लगे—"भगवन्! आपने सुना ही होगा। प्राचीन काल मे परम यशस्वी उशीनर बडे ही धर्मात्मा और प्रजा के परम प्रीति भाजन भूपति हो चुके हैं। पुण्य श्लोक महाराज शिवि उन्हीं के पुत्र थे। पिता के पश्चात् वे राज्य के उत्तराधिकारी हुए और पिता के सदृश ही धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे वे इतने धर्मात्मा परोपकारी भूपति थे, कि पर पीडा को सहन नहीं कर सकते थे। उनकी शरण मे कैसा भी कोई आ जाता उसी की रक्षा करते। उनकी शरणागतवत्सलता का प्रशंसा तीनों लोकों में छा गई। इन्द्र को बडा डाह हुआ, कि पृथिवी मे रहने वाले एक मर्त्यधर्मा राजा की कीर्ति मुझसे भी बढ गई है। उसकी शुभ्र कीर्ति से यह त्रिभुवन भर गया है। किन्तु करते क्या जितना पुण्यकार्य परोपकार इस मनुष्य शरीर से हो सकता है, उतना देव शरीर से तो होना सभव ही नहीं। परोपकार के कारण महाराज शिवि की कीर्ति दिग्दिगन्तों मे छा गई।

एक दिन की बात है, कि महाराज अपनी राजसभा मे बैठे थे। इतने में ही एक भयभीत कपोत बडे वेग से उडता हुआ आकर महाराज शिवि की गोद मे छिप गया। सहसा एक दुखित पक्षी को स्वत ही अपनी गोद में बैठा देखकर राजा के हृदय में बड़ी करुणा आ गई। प्यारसे उन्होंने उसके सिरपर हाथ फेरा उसे

निर्भय करने की चेष्टा करने लगे उसी समय राजपुरोहित ने कहा—"महाराज ! यह कबूतर आपके शरण में आया है, आप शरणागत वत्सल हैं, इसकी रक्षा तो आप करेंगे ही, किन्तु इस प्रकार सहसा कबूतर का गिरना भावी अनिष्ट का सूचक है, अत आप इस अनिष्ट की शान्ति के लिये कुछ दान धर्म करावें।" इतने में ही राजा के पास एक बाज आकर बैठ गया। बाज को देखकर कॉपते हुए कबूतर ने कहा—"प्रभो ! यह बाज मुझे मार डालेगा, अत मैं आप की शरण हूँ आप मेरी रक्षा करें।

एक कबूतर के मुख से इतनी स्पष्ट मनुष्य वाणी सुनकर महाराज शिवि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बोले—"हे पक्षी ! तुम पक्षी होकर ऐसी स्पष्ट मधुर मनुष्य वाणी कैसे बोल रहे हो ?"

यह सुनकर कबूतर ने कहा—"राजन ! वास्तव मे मैं पक्षी नहीं। मैं इच्छानुरूप रूप बनाने वाला एक जितेन्द्रिय वेदज्ञ ब्रह्मचारी हूँ। मैंने वेदों का विधिवत अध्ययन किया है। मैं धर्म के मर्म को जानने वाला वेद पाठी विशुद्ध ब्राह्मण हूँ। इस बाज के भय से भयभीत हुआ, मैं आप की शरण मे आया हूँ। सुना है, आप बड़े शरणागत वत्सल हैं, मेरी इस बाज से रक्षा कीजिये। यदि मेरी आपने रक्षा न की, तो आपको पाप लगेगा।"

कबूतर की ऐसी बात सुनकर बाज बोला—"महाराज ! आप धर्मात्मा हैं, ससार में सब से बड़ा पाप है किसी की जीविका का अपहरण कर लेना। ब्रह्मा जी ने मेरी यही जीविका बनादी है। मैं बहुत भूखा हूँ। जैसे तैसे तो मुझे यह कपोत मिला है, मैं इसे मार कर अपनी बुभुक्षा शान्त करना ही चाहता था कि आपने इसे अपनी गोद मे छिपा लिया। आप इसे न देंगे, तो आपको भूखे प्राणी की जीविका अपहरण करने का पाप लगेगा।"

बाज की ऐसी गूढ ज्ञान युक्त बात सुन कर महाराज शिवि धर्म सकट मे पड गये। उन्होंने बडी विनय के साथ बाज से कहा—"हे पक्षी! देखो, तुम मेरी बात सुनो। तुम्हें तो पेट भरने से काम है, मैं तुम्हारा जिसके मास से कहो पेट भर दूँगा। तुम कहो तो जीवन भर में तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर दूँगा, किन्तु इस कबूतर को मुझसे मत माँगो। इसे मैं दे दूँगा, तो ससार में सर्वत्र मेरा अपयश फैल जायगा, सभी कहेंगे, यह राजा झूठा है। यह शरण में आये प्राणियों की रक्षा नहीं कर सकता। तुम मेरे ऊपर कृपा करके ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे तुम्हारा काम भी हो जाय, मेरी अपकीर्ति भी न हो। जितना कहो उतना मैं मास मँगा दूँ।"

बाज ने दृढता के साथ कहा "देखिये महाराज! न तो मुझे और किसी का मास चाहिये। न कबूतर के मांस से अधिक ही मास चाहिये। मैं जब अपने पुरुषार्थ से पैदा करता हूँ, दूसरों के सम्मुख दीन होकर याचना क्यों करूँ।"

राजा ने सरलता के साथ कहा—"हे खग! तुम दीन कहाँ हो रहे हो, दीनता तो मैं दिखा रहा हूँ। तुम याचना नहीं कर रहे हो, मैं ही उलटा तुमसे भीख माँग रहा हूँ, तुम कबूतर के मास से अधिक नहीं लेना चाहते, तो इसी के बराबर जिस का चाहो मास मुझ से तोल कर ले लो। ऐसा काम करो भैया, कि मेरी कीर्ति नष्ट न होने पावे। लोग मेरी निंदा न करें।"

राजा की ऐसी बात सुनकर बाज गम्भीर हो गया और बोला —"महाराज! यदि आप इस कबूतर के बराबर मुझे किसी का मास देना ही चाहते हैं, तो स्वय हो अपने हाथसे काटकर अपनी जाँघ का मास इस कपोत के बराबर दे दें। इससे आपकी कीर्ति भी बढ़ेगी। नाम भी होगा और मेरा भी काम बन जायगा।"

बाज की ऐसी बात सुनकर महाराज शिवि अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने एक तराजू लेकर एक ओर तो कबूतर को रखा और दूसरी ओर अपना जाँघ से स्वय मास काट काटकर तराजू के पलड़े में रखने लगे। महाराज ने देखा कबूतरका पलड़ा उठता ही नहीं कितना भी वे मास काट काटकर रखते हैं किन्तु उस कपोत के बराबर नहीं होता। जब उन्होंने देखा कबूतर का पलड़ा भारी है, तो वे स्वय तराजू के पलड़े पर बैठ गये। महाराज की ऐसी परोकार में निष्ठा देखकर सभी धन्य धन्य करने लगे। स्वर्ग से देवताओंने दुन्दुभी बजाई नन्दन वन के दिव्य पुष्पों का उनके ऊपर वृष्टि की इतने में ही बाज अन्तर्धान हो गया।

राजा शिवि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बाज और कबूतर दोनों को मानवी भाषा बोलते देखकर ही चकित हो गये थे, इस घटना से तो वे और भी आश्चर्य में भर गये। उन्होंने बड़े स्नेह के साथ कबूतर से पूछा—"हे पक्षि श्रेष्ठ! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आप कौन हैं? आप दोनों साधारण पक्षी तो हैं नहीं। यह बात आप दोनों के सम्वाद से ही स्पष्ट हो जाती है।"

यह सुनकर कबूतर बोला—"महाराज! आपका अनुमान असत्य नहीं है। मैं साक्षात् धूमकेतु देवताओं को हवि पहुँचाने वाला अग्नि हूँ। बाज रूप धारण करने वाले ये स्वर्गाधिप देवेन्द्र शतक्रतु हैं। हम दोनों आपकी परोपकार निष्ठा और शरणागत वत्सलता की पराकाष्ठा करने निमित्त ही कबूतर और बाज का रूप रखकर आये थ। राजन! आपने अपने प्राणों को भी देकर शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा की, अत मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ, कि ससार मे आपकी सदा अक्षुण्णकीर्ति बनी रहेगी। आप दानियो मे सर्वश्रेष्ठ समझे जायँगे और जिस जगह

से आपने अपना मास काटा है वह ज्यों की त्यों होकर सुवर्ण की बन जायगी, इस प्रकार आपकी दिगन्त व्यापी कीर्ति सदा के लिये चिन्ह शेष रह जायगा।"

श्रीसूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो इतना कहकर अग्निदेव भी वहीं अन्तर्धान हो गये। सो, दधीचि मुनि की शरण में आये हुए देवता भी उन्हीं शिवि का उदाहरण देकर मुनि से अस्थि देने के लिये आग्रह करने लगे।

छप्पय

इन्द्र बने वर बाज कबूतर अनल बनाये।
दोनों झगड़त परम यशस्वी शिव ढिग आये॥
अति ई दुखी कपोत कहे प्रभु रक्षा कीजे।
बाज भूख तें दुखित कहे भोजन मम दीजे॥
शरणागत की देह दे, पीड़ा भूपति ने हरी।
मांस दयो निज देह को, रक्षा शिवि वाकी करी॥

पर दुख से दुखी होना ही जीवन है

(४०१)

नन्वु स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः॥
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सब स्वारथ के मीत न देखें परहित कोई।
होवे मेरो लाभ हानि भल औरनि होई॥
पर उपकारी सदा दुख औरनि को लेवें।
दुखियन केहित विहसि प्रान तन धन कूँ देवें॥
यह कारज मैंने कियो, नहीं करें अभिमान वे।
उनको सहज स्वभाव यह, दोष न देवें ध्यान वे॥

हम सब से अधिक स्नेह शरीर से करते हैं। शरीर की रक्षा और सुख के लिये ही हमारे सब व्यापार हैं। घर बनाते हैं, तो इसीलिये कि वर्षा जाड़े तथा गरमी से शरीर की रक्षा हो सके, शरीर सुखी रहे, उसे कष्ट न हो। सवारी, वाहन आदि इसी

---

*देवतागण दधीचि मुनि से कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! यह संसार तो स्वार्थी है यह दूसरों के संकट को नहीं पहिचानता कि अपनी प्रिय वस्तु देने में कितना कष्ट होगा। और यदि दूसरे के कष्ट को लोग पहिचानते, तो माँगने वाला दूसरों से माँगता ही क्यों? और समर्थ होने पर माँगने वाले से कोई निषेध ही क्यों करता?"

लिये रखते हैं, कि शरीर को श्रम न हो। विवाह इसीलिये
हैं, कि शारीरिक सुख प्राप्त हो, मन मे अशान्ति न हो, ज
सुविधानुसार बीते। सुयोग्य सुत इसीलिये चाहते हैं, कि
वृद्धावस्था मे हमे सुख पहुँचावे। पाप करके शरीर को पा
करना अन्याय है अधम पुरुष ऐसा ही करते हैं। वे अपने श
को पुष्ट करने के लिय हजारों लाखों प्राणियोंकी हिंसा करत
मछलियों को मारकर खा जाते हैं, बहुत पशु पक्षियों को खा जा
हैं, गरीबोंका रक्तशोषण करके धन एकत्र करते हैं। कुछ ला
धर्म से धन उपार्जन करके भरसक पर पीड़ा से बचकर शु
आजीविका द्वारा धन पैदा करके अपना तथा अपने परिवार वाल
का पालन करते हैं। वे धर्मात्मा पुरुष हैं, वे सच्चे पुरुष हैं। किन्तु
जो परउपकार के लिय अपने शरीर को भी अर्पण कर देते हैं, व
मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं देवताओं से भी बढ च
कर हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! दधीचि मुनि के समीप जाकर
देवता परोपकार की भाँति भाँति से अनेकों आख्यान और इति
हास सुनाकर प्रशसा करने लगे। देवताओं ने कहा—"ब्रह्मन्!
ससार में सब से बुरा कार्य है, याचना। सब से बुरा व्यक्ति है
याचक। याचक से सभी घृणा करते हैं। जैसे हमसे कोई हमारी
प्यारी वस्तु माँगे, तो हमें माँगने वाला बुरा लगता है, इसी प्रकार
सर्वसाधारण लोगों को याचक उद्वेग पैदा करने वाला होता है।
याचक सब की ओर आशा भरी दृष्टि से देखता है, किन्तु उस
सामने रहते हुये भी लोग नहीं देखते। वह दीन वाणी से बार
बार बोलता है, किन्तु कान रहते हुय भी लोग सुनते नहीं
क्योंकि याचक अपने स्वार्थ के लिये माँगता है। वह दूसरों क
सङ्कट को समझता नहीं, कि पैसा कितने परिश्रम से पैदा किया

जाता है। और फिर कैसे भी पैसा पास में आ जाय उससे कितना ममत्व हो जाता है। प्राणों से भी प्यारा लगता है। ऐसी इतनी प्यारी वस्तु को वही माग सकता है, जो घोर स्वार्थी है, जिसे दूसरे के दु ख का अनुभव न हो। उस याचक से भी अधिक स्वार्थी वह पुरुष है, जो सामर्थ्य रहते हुये भी मागने वाले को मना कर दे। याचक को निराश लौटाना सामर्थ्य रहते हुये भी उसकी याचना को विफल बना देना यह घोर पाप है। ब्रह्मन! इस नश्वर शरीर का होना ही क्या है। एक दिन तो इसका अत होगा ही। यदि वह उपकार मे लग जाय, तो इससे श्रेष्ठ इसका क्या सदुपयोग होगा। देखिये, सभी की देह का कुछ न कुछ उपयोग है। वृक्ष जीवन भर फल देकर परोपकार करते रहते हैं। स्वय गदी खाद खाकर मधुरफल दिया करते हैं। मरने पर उनकी सूखी लकडी से भाँति २ की वस्तुएँ बनती हैं, भोजन बनाने में काम मे आती हैं। गाय भैंस घास खाकर मीठा माठा अमृतोपम दुग्ध देती हैं। मरने पर उनकी अस्थियाँ, चर्म, सींग, मास सभी काम में आते हैं। हरिन की खाल की मृगछालायें बनाई जाती हैं, सिंह की खाल के वाघम्बर बनते हैं, जिनका राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि तक उपयोग करते हैं। भेड, वकरी की ऊन से वस्त्र बनते हैं। मरने पर उनकी खाल की विविध वस्तुएँ बनती हैं, लोगो के कामों मे आती हैं। पानी भरने के पात्र बनते हैं। सभी की देह का कुछ न कुछ उपयोग है, किन्तु यह एक मनुष्य ही ऐसा जन्तु है, कि मरने पर इसकी देह का कोई उपयोग नहीं। यदि मरा हुआ पड़ा रह जाय, तो कीडे पड जायँ, दुर्गन्धि आ जाय, वायु मडल को दूषित करदे। जला दें, तो राख होजाय, पृथ्वी मे गाड़ दें तो मिट्टी हो जाय। जगल में फेंक दें तो सियार, कुत्ता, चील्ह, कौए आदि खाते तो हैं, किन्तु

जो स्वार्थी है लोभी है, केवल पेट को ही जीवन भर पालता है उसके मांस को बुद्धिमान् गीदड़ भी नहीं खाते। एक गीदड़ अपने बच्चे को उपदेश दे रही थी—"देख बेटा! वहाँ एक अत्यन्त ही स्वार्थी, कृपण पेट पोषक व्यक्ति का शव पड़ा है, उस का मांस तुम कभी भूल कर भी मत खाना।"

ब्रह्मन्! इस नश्वर शरीर से यदि किसी का भला हो जाय तो इस अधम शरीर की सच्ची सार्थकता ही हो जाय। देखिये महाराज बलि ने अपने प्राण देकर भी याचक की याचना को पूर्ण किया। महाराज मोरध्वज से याचक वेष बनाये साक्षात् भगवान् ने अपने सिंहके लिए उनके पुत्र का मांस माँगा था और यह आग्रह किया था कि राजा रानी स्वयं आरा लेकर चीरें, सो राजाने ऐसा ही किया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजा मोरध्वज ने अपने पुत्र को क्यों किस प्रकार अतिथि को दिया, इस आख्यान को हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! यह इतिहास तो बहुत बड़ा है। मैं सक्षेप में आपको सुनाता हूँ आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

एक बार नर ने श्रीनारायण से पूछा—"प्रभो! पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ परोपकारी शरणागतवत्सल आतिथ्य सत्कार करने वाला कौन पुरुष है?"

इस पर श्रीनारायण ने कहा—"भैया! इस समय मोरध्वज के समान शरणागतवत्सल और परोपकारी दूसरा व्यक्ति मुझे दिखाई नहीं देता।"

इस पर नर ने कहा—"भगवन्! मैं उन राजर्षि मोरध्वज का महत्व जानना चाहता हूँ।"

अपने भाई की ऐसी बात सुनकर श्रीनारायण ने अपने भाई नर को तो सिंह बनाया और स्वय साधु का वेष बनाकर राजा मोरध्वज के महलों में पहुँचे। राजा ने महात्मा का हृदय से स्वागत सत्कार किया, उनकी विधिवत् पूजा की और भोजनों के लिये प्रार्थना की।

इस पर साधु वेषधारी भगवान् बोले—"राजन् मैं कई दिनों का भूखा हूँ, भूख के कारण में अत्यन्त ही दुखी हूँ, किन्तु जब तक यह मेरा सिंह कुछ न खा लेगा तब तक मैं भी कुछ नहीं खा सकता।"

राजा ने विनय के साथ कहा—"ब्रह्मन् आप आज्ञा करें, आपका सिंह क्या खायगा। वह जो भी खायगा उसी का मैं तत्क्षण प्रबन्ध करूँगा। आप अपने मन में किसी प्रकार की शका न करें।"

इस पर साधु वेषधारी श्रीनारायण बोले—"राजन ! यह सिंह नर मास भोजी है। यदि कोई शुद्ध राजवश ! का पुरुष मिले, तो उसे यह खायगा, पर इसका नियम है आधे पुरुष को खाता है।

राजा ने दृढता के साथ कहा—"भगवन् ! आपका सिंह मुझे खाय मैं स्वय इसके लिये उपस्थित हूँ।"

साधु ने गभीर होकर कहा—"राजन् ! आप मूर्धाभिषिक्त हैं प्रजा पालक हैं। आप को मेरा सिंह न खायगा। हाँ यदि आप का राजपुत्र श्रद्धा सहित प्रसन्नता पूर्वक अपना शरीर अर्पण कर दे और आप राजा रानी दोनों ओर से उसके शरीर के दो टुकड़े कर दें तो वह दाहिने टुकड़े को खाकर सन्तुष्ट होगा, जब यह सन्तुष्ट हो जायगा तब मैं भोजन करूँगा। अन्यथा मैं भी भूखा ही रह जाऊँगा।

राजा अत्यन्त विनीत भाव से उल्लास के साथ कहा "ब्रह्मन्! मेरे द्वार से आज तक कभी याचक विफल होकर नहीं गया है। मेरे राजकुमार का यह परम सौभाग्य कि उसका शरीर साधु सेवा में काम आवे। मैं अभी उसे बु कर पूछता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा ने तुरत राजकुमार बुलाया। वह तो यह सुनकर फूला नहीं समाया। उसने कहा "पिता जी यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो मेरा शरीर प पकार के कार्य में लगे। आप मेरे शरीर से अवश्य ही सिंह सन्तुष्ट कर दीजिय।"

कुमार की यह बात सुनकर एक ओर राजा खड़े हो ग दूसरी ओर उनकी रानी। दोनों आरा लेकर अपने पुत्र शरीर को चीरने लगे। चीरते चीरते जब आरा आँख के सम आया तो बच्चे की बाईं आँख से आँसू निकल पड़े। तब सा बिगड गये और बोले—"अब कुमार के अग को मेरा सि न खायगा क्योंकि कुमार रोकर अश्रद्धा से अपना शरीर रहा है।"

इसपर अधीर होकर राजा ने कहा—"नहीं भगवन्! कुमार की बाईं आँख से इस लिये आँसू निकल पड़े कि बायाँ अग कहता है हम ऐसे अभागी हैं कि हमारा परोपकार में कुछ भी भाग न रहा। सिंह तो कुमार के दायें अग को ही खायेगा। अत दायाँ अग प्रसन्न हो रहा है। बायाँ अग अपने इस दुर्भाग्य पर रुदन कर रहा है।"

इस बात को सुनकर साधु सन्तुष्ट हुए। दायें अग को चार कर सिंह के आगे डाला गया। सिंह उसे खा गया अब साधु ने कहा—"रानी स्वय रसोई बनावे तो मैं खाऊँ।" यह सुनकर

रानी बिना दुखित हुए गई उसने बड़ी श्रद्धा से रसोई बनाई। रसोई बनाकर साधु को परसी। अब साधु पुनः अड़ गये। बोले—"तुम अपने बच्चे को बुलाओ, तो मैं उसके साथ भोजन करूँगा।"

राजा ने अधीर होकर कहा—"प्रभो बच्चा अब कहाँ है। उसे तो आपके सामने हमने चीर कर सिंह को खिला दिया।"

साधु हठी ठहरे बोले—"नहीं, उसे प्रेमपूर्वक बुलाओ।"

राजा क्या करते वे उसे पुकारने लगे। इतने में ही भीतर से हँसता हुआ कुमार निकल आया राजा रानी दोनों प्रसन्न हुए। भगवान् ने अपने यथार्थ रूप मे उन दोनों को दर्शन दिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं ने परोपकार के अनेकों इतिहास सुनाये। सक्तु मुनि का दृष्टान्त दिया जिन्होंने अपने घर भर के सत्तुओं को खिलाकर स्वयं भूखों रहकर आगन्तुक अतिथि का सत्कार किया। महाराज रन्तिदेव का चरित्र सुनाया जो ४६ दिनोंके पश्चात् प्राप्त हलुआ खीर आदि को अतिथियों को देकर भी स्वयं बिना जल पिये ही सन्तुष्ट हुए और कहा था—"मैं अपने लिये स्वर्ग मोक्ष सुख कुछ भी नहीं चाहता। मेरे द्वारा दीन दुखियों का उपकार हो मेरा शरीर परोपकार में लगे, यही मेरी अभिलाषा है। सो ब्रह्मन्! आपकी हड्डियों से देवताओं का भला होगा ऐसा भगवान् ने कहा है। यदि आप उचित समझे तो हमे आपनी अस्थियों को दे दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवताओं की बात सुनकर महर्षि दधीचि हँसे और उन्हें उत्तर देने को प्रस्तुत हुए।

छप्पय

हाड़ मास के बने देह में ममता सबकूँ।
चाहें सब हों दुखी सदा सुख होवे हमकूँ॥
परउपकारी त्यागि देहिँ सरबसु कँ ममता।
देहिँ देह को दान रखें सबई महँ समता॥
मोरध्वजने सही सब, साधु सिंह हित सुत व्यथा।
है अब तक जगमहँ विदित, शिवि दधीचि बलिकी कथा॥

दधीचि मुनि का उत्तर

(४०२)

धर्म वः श्रोतुकामेन यूय मे प्रत्युदाहृताः।
एप वः प्रियमात्मान त्यजन्त सत्यजाम्यहम् ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ७ श्लो०)

छप्पय

हँसि दधीचि मुनि कहैं धर्म को मम जतायो।
ताहीं तें अस व्यग देवगन वचन सुनायो॥
विषयनि तें नहिँ मोह नहीं है ममता तनकी।
लगी रहे नित वृत्ति ब्रह्महँ मेरे मनकी॥
इक दिन छूटे अवसि इ, नाशवान् यह है अनित।
च्यौं न तजूँ फिरि स्वत ई' तन तुम्हरे हितके निमित॥

जब बच्चे आकर हमसे कोई सच्ची बात भी कहते हैं, तो हम उनके बुद्धि कौशलको देखने के निमित्त सत्य बातमे भी तर्क करते हैं, कुछ प्रसग चले कुछ इस सम्बन्ध की प्यारी प्यारी बातें हो। स्नेहियों के साथ घुल मिलकर बातें करने से बडा सुख होता

❀ महामुनि दधीचि देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ! आप लोगों के प्रति यह बात मैंने धर्म सुनने की इच्छा से कह दी थी यह मेरा शरीर एक न एक दिन तो अवश्य छूटेगा अत इसे परोपकार के निमित्त आज ही छोड देता हूँ।

है। रस का सचार दो रसिकों के शारीरिक या मानसिक
से या हृदय तथा शरीर के स्पर्श से अथवा तद् सम्बन्धी
वार्ताओं से होता है। रसिक लोग इनके लिये सदा लाल
रहते हैं। वे इनके लिये एकान्त अवसर ढूँढते रहते हैं। ह
भाव और भजन के लिये एकान्त परम आवश्यक है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब देवताओं
महामुनि दधीचि से उनकी अस्थियों को माँगा, तो ऊपरी म
आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि ने कहा—"अरे! तुम लोग कै
भूली भूली सी बातें करते हो। कहीं जीवित शरीर भी स्वेच
से दिया जाता है।" इस पर देवताओं ने धर्म के मर्म को, परो
कार के महत्व को त्याग की महानता को बताते हुये बहुत
धार्मिक पुरुषों का दृष्टात दिया, जिन्होंने धर्मकी बलिवेदीपर अप
सर्वस्व को यहाँ तक कि प्राणों को भी हँसते २ उत्सर्ग कर दिय
था। इन बातों को सुनकर दधीचि मुनि हँस पड़े और अत्यत हा
प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—"देवताओं! तुम कुछ और
मत समझना।

इन्द्र ने व्यग्रता के साथ कहा—"भगवन्! और कुछ समझने
की तो बात ही है। हम कितनी आशायें लेकर स्वय साक्षात
श्रीमन्नारायण की आज्ञा से आपकी सेवा मे उपस्थित
हुए थे। हमें आशा थी, आप हमारे मनोरथ को विफल न
बनावेंगे, सो आप ने आते ही कह दिया, कि चाहे विष्णु भग
वान ही क्यों न माँगे कोई अपने जीवित शरीर को नहीं दे
सकता। इसी से हम बड़े निराश हो गये हैं।"

यह सुनकर हँसते हुए दधीचि मुनि बोले—"अरे, भैया!
यह बात तो मैंने वैसे ही हँसी में तुमसे कह दी थी। इसी बहाने
तुम्हारे मुख से मैंने धर्मकी मधुर मधुर बातें सुन ली। मुझे

इस नाशवान अनित्य शरीर का मोह थोड़े ही है। मोह उस वस्तु से करना तो उचित है, जो नित्य हो शाश्वत हो। यह देह अनित्य है, क्षण भंगुर है, नाशवान है, एक न एक दिन अवश्य ही नाश हो जायगी। जब इसे अपने आप नाश होना ही है तो इसे परोपकार में क्यों न लगा दें। यदि इसी अनित्य देह से नित्य वस्तु की प्राप्ति हो जाय, तो ऐसे लाभप्रद व्यापार को कौन नहीं करना चाहेगा ?"

इस पर देवताओं ने कहा—"भगवन्! ये प्राणी तो अपने अपने स्वार्थ में निमग्न हैं। परमार्थ आप जैसे किसी महापुरुष को ही सूझता है। हम तो स्वार्थी हैं। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ऐसी बातें कह रहे हैं।"

इस पर दधीचि मुनि ने कहा—"भैया! तुम लोग, स्वार्थ से कहो अथवा परमार्थ से। देखो तुम वृक्षों के ही जीवन पर ध्यान दो। सदा सरदी, गरमी और वर्षा में खड़े रहते हैं। गरमी से श्रान्त पथिकों को शीतल छाया देते हैं, उन्हें जो काट लेता है उसके भी उपयोग में आते हैं। फूलने पर सुगन्ध देते हैं फलने पर फल देते हैं। स्वयं न खाकर दूसरों को खिलाते हैं, वे निरंतर पुरुषार्थ ही करते रहते हैं। जब स्थावर होकर वे इतना परोपकार करते हैं, तो जो जङ्गम हैं, सब प्राणियों से श्रेष्ठ मनुष्य हैं, यदि वे परोपकार न करें, केवल अपने पेट पालने और शरीर को मोटा बनाने में ही लगे रहें—तो वे स्थावरों से भी अधिक शोचनीय हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि व्यापार तो पशु पक्षी मनुष्य सभी में समान रूप से होते हैं। मनुष्यों में यही एक विशेषता है, वह इस अनित्य शरीर से जीवों पर दया करते हुए धर्म और यश का उपार्जन कर सकता है। जिसने यह सब नहीं किया। अपनी कीर्ति को चिरस्थाई

नहीं बनाया वह तो पशुओं के समान है। सब प्राणियों अधिक निन्दनीय और सोचनीय है। मनुष्य में धर्म ही पशु विशेष है। धर्महीन पुरुष पुच्छ विषाणहीन पशु ही है।

इस पर देवताओं ने पूछा—"भगवन्! धर्म का मुख्य लक्ष क्या है?"

यह सुनकर दधीचि मुनि बोले—"धर्म के मुनियों ने अन लक्षण बताये हैं। किसी ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और अप आत्मा को जो प्रिय हो इस प्रकार धर्म के लक्षण बताये हैं किसी ने अविरोधी भाव को धर्म बताया है। अहिंसा, सत्य अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, दान और विविध इस प्रकार धर्म के लक्षण बताये हैं। किन्तु मेरे मत में तो पुण्य कीर्तिशाली पुरुषों द्वारा सेवित परम धर्म यही है, कि दूसरों के दुःख में दुःखी होना और दूसरों के सुख में सुखी होना।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! जब परमार्थ का इतना महत्व है, तो फिर लोग स्वार्थ में इतने सलग्न क्यों रहते हैं?"

अत्यन्त खेदके स्वर में मुनि ने कहा—"स्वार्थ में कहाँ सलग्न रहते हैं। इन विषयी पुरुषों ने तो स्वार्थ का असली तात्पर्य समझा ही नहीं। देवताओं! यह अत्यन्त दुःख की बात है, बहुत ही कष्ट का विषय है, कि जिन वस्तुओं से कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, उन विषयों में मनुष्य कितना भारी ममत्व रखता है। पहिले धन को ही ले लीजिये। धन आज तक किसा का हुआ है? आज जिस रुपये को आप अपना कह रहे हैं, कल वही दूसरे के पास चला गया, तो वह उसे अपना कहता है। इस प्रकार कितने लोग धन को मेरा मेरा कह कर मर गये, किन्तु धन किसी के साथ नहीं गया। वह किसी का भी नहीं हुआ। फिर धन में सुख हो सो भी बात नहीं।

एक बहुत बडा धनिक पुरुष था। उसके पास अरबों खरबों सुवर्ण मुद्रायें थीं। मोती, हीरा, जवाहिरात, अनगिनतिन थीं। एक दिन वह अपने कोषागार में घुसा। वह ऐसा बना था कि भीतर से भी बंद हो जाता था और बाहर से भी। जिस समय वह अकेला उसमें घुसा तो उसकी ताली ले जाना भूल गया। घुमकर किवाड लगाते ही वह बंद हो गया। अब तो उसके निकलने का कोई उपाय नहीं। उसी मे सड़कर वह मर गया। जब बहुत दिन तक खोज करने पर भी उसका पता न चला, तो राज कर्मचारियों ने आकर उसके कोष के तालों को तोडा। उसी धनागार में वह मरा पडा था। पास मे ही एक पत्र लिखा पडा था। उसमें उसने लिखा था—"लोग कहते हैं धन ही सब से श्रेष्ठ है। मैं कहता हूँ, धन वही श्रेष्ठ है, जिसका उपयोग धर्म में परोपकार में होता हो। जो धन परोपकार में व्यय नहीं होता, धर्म कार्य मे जो नही लगता वह तो भार स्वरूप है। मेरे समीप असख्य सुवर्ण मुद्रायें पडी हैं, बहुमूल्य से बहुमूल्य मणि मुक्तायें सम्मुख हैं, किन्तु ये मुझे बचा नहीं सकते। मैं भूखा मर रहा हूँ।" सो देवताओ! जो पुरुष इन दूसरों के ही भोग्य तथा क्षणभगुर जन धन और शरीरादि से दूसरो का उपकार नहीं करता, वह जीता हुआ मृतक तुल्य है।"

इस पर देवताओं ने कहा—"तब भगवन्! हम अब क्या आशा रखें?"

इस पर भगवन् दधीचि ने कहा—"अरे, भाई! आशा की क्या बात है। तुम लोग अपने मन की शका को छोड दो। यदि तुम सबका उपकार मेरी हड्डियों से ही होता हो तो मैं अपने अहोभाग्य समझूँगा। हँसते २ इन हड्डियों को देने के लिए उद्यत हो जाऊँगा।"

देवता तो मुनि की पत्नी गभस्तिनी के भय से भयभीत हो रहे थे, वे सोच रहे थे यदि वह पतिप्राणा सती कहीं आगई, तो सब गुड गोबर हो जायगा, पहिले तो वह अपने पति से ही मना करेगी। यदि पति न माने तो वह अपने सतीत्व के तेज से हम सब को क्रोध भरी दृष्टि से देखकर ही भस्म कर देगी। अब जब तक वह सरिता तट से लौटकर नहीं आती तभी तक हमें अस्थियों को लेकर उसका ही वज्र बना कर चपत हो जाना चाहिए। मुनि से प्रार्थना करनी चाहिए कि 'शुभस्य शीघ्रम्' है हो तैसे शीघ्र यह कार्य हो जाय।" यही सब सोचकर वे बोले "तब ब्रह्मन्! देर करने की क्या बात है। आप आज्ञा दीजि विश्वकर्मा अपना कार्य आरभ करें।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह सुनकर महामुनि दधीचि देवताओं के निमित्त प्राण देने को उद्यत हुए। अब मरते समय उन्होंने जो कहा और जैसे इस शरीर का हँसते २ त्याग कर दिया। इस वृत्तान्त को मैं आगे सुनाऊँगा तुम इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

छप्पय

अहो कष्ट अति घोर करें नर तन महँ ममता।
नहि साधे परलोक करें धन माहिँ कृपनता॥
परम धर्म है जिही दुखी पर दुख महँ होनों।
दया धर्म तें हीन व्यथ जीवन को खोनों॥
क्षण भगुर नित नासयुत, व्यर्थ मोह घन गेह महँ।
क्यों न वितावे समय कूँ, परकारज कूँ, हरनि महँ॥

— o —

दधीचि मुनि का शरीर त्याग

(४०३)

एव कृत व्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनम्।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मान सन्नयञ्जहौ ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ११ श्लो०)

छप्पय

सुनि मुनि को उपदेश देवता अति ई हरषें।
बजें दुदुभी गगन पुष्प सुर तरु के बरषें॥
मुनि पुनि इच्छा करी तीर्थ मैंने नहि कीन्हें।
तुरत तीर्थ तहँ सुरनि बुलाये सब मुनि चीन्हें॥
न्हाय धोय निश्चिन्त है, सर्व तीर्थ करि भक्ति तें।
बैठे तनु त्यागन, निमित, तप सयम की शक्ति तें॥

अहा ! उन परोपकारी सन्तो के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जो परोपकार के निमित्त दुष्कर कार्य कर डालते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो इस देह के साथ किसी का सम्बन्ध ही क्या है। सोना चाँदी पता नहीं किस खानि में कहाँ पैदा हुए, किसने उनको निकाला कहाँ उनको शुद्ध किया गया किसने उनकी मुद्रा भाँति भाँति के आभूषण बनाये। वे प्रथम किनके पास आय

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन ! उन अथव वेदी दधीचि मुनि ने मन में ऐसा निश्चय करके अपने चित्त को परब्रह्म भगवान् में तल्लीन कर अपनी देह को त्याग दिया।"

घूमते फिरते कभी प्रवाह मे हमारे समीप भी आ गये। हमारा देह से भी उनका ससर्ग हो गया। अब तक जिन वस्तुओं को दूसरे लोग मेरी मेरी कहते थे, अब हम उन्हे अपनी कहने लगे। देह सम्बन्ध से उनमे हमारा ममत्व हो गया। इसी प्रकार माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, परिवार प्रिय मित्र तथा सगे सम्बन्धियों के सम्बन्ध मे है। ये सब हमे देह ससर्ग से प्यारे हैं। हमें सुख देते हैं इसीलिये इनमे प्रियत्व स्थापित कर रखा है। जब शरीर से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को देने मे भी हमे हिचकिचाहट होती है तो फिर शरीर देने की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु जो परोपकार के लिये हँसते हँसते शरीर का त्याग देते हैं, उनसे बढकर ससार मे दूसरा कौन होगा वे भगवान् के अशावतार हैं, त्याग की मूर्ति हैं, परोपकार की सजीव प्रतिमा हैं और हैं वे नित्य और शाश्वत यशस्वरूप। अत ऐसे परोपकारी सर्वस्व त्यागी महापुरुषो के पादपद्मो में कोटिश' प्रणाम है।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन् जब दधीचि मुनि ने कृपण पुरुषों की बहुत निन्दा की और परोपकार को ही मनुष्य का परमधर्म बताकर स्वय शरीर देने को उद्यतहुए तब तो देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। अब मुनि ने सोचा मेरे मन मे कोई वासना शेष तो नहीं है। सोचते सोचते उनके मन मे एक शुभ वासना उत्पन्न हुई और देवताओं ने उसे तुरत पूरा किया।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् दधीचि के मन मे कौन सी शुभ वासना उत्पन्न हुई और देवताओं ने उसकी किस प्रकार पूर्ति की इस कथा को, आप हमें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—मुनियों जब दधीचि मुनि शरीर त्यागने के लिए उद्यत हुए तो उन्होंने देवताओं से कहा—"देवताओं ! मैं जब से उत्पन्न हुआ हूँ तबसे निरन्तर धर्म कर्म और तपस्या में ही निरत रहा हूँ। कभी गङ्गा तट पर कभी सरस्वती तट पर और कभी गोमती तट पर मैं आश्रम बनाकर तप करता रहा हूँ, आज तक मैंने तीर्थयात्रा नहीं की। साधु को तीर्थ यात्रा अवश्य करनी चाहिये। यदि तुम लोग कहो तो मैं शीघ्र जाकर सब तीर्थों की यात्रा कर आऊँ।"

देवताओं का माथा ठनका ! मुनि यदि तीर्थ यात्रा को गये तो न जाने कब तक लौट कर आवें फिर क्या पता तीर्थों में अनेकों प्रकार के लोगों से भेंट होती है। सभी के भिन्न भिन्न मत होते हैं किसी ने मुनि को भडका दिया कि मनुष्य यदि जीता रहे तो सैकडों कल्याण प्रद घटनाओं को अनुभव कर सकता है, आप इन स्वारथी देवताओं के कहने मे आकर शरीर का परित्याग क्यों करते हैं, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा हम सदा के लिए स्वर्ग से भ्रष्ट हो जॉयगे। देवलोक मे असुरों का आधिपत्य हो जायगा, 'इन्द्रासन पर वृत्रासुर बैठ जायगा अब तो मुनि अनुकूल हैं शरीर देने को उद्यत हैं। बुद्धिमान पुरुषों को अवसर से न चूकना चाहिये। यही सब सोच समझकर देवताओं की ओर से इन्द्र बोले—"ब्रह्मन् आप जैसे सत तो स्वय साक्षात् तीर्थ रूप ही हैं, आप को तीर्थों की क्या अपेक्षा साधु सत तो तीर्थों को पावन बनाने के निमित्त तीर्थों में जाते हैं। सतों के ससर्ग में मलिन हुए तीर्थ पावन बन जाते हैं अन आपके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है।"

मुनि ने कहा—"नहीं कर्त्तव्य तो हमें कुछ भी शेष नहीं जिसका क्षण भर भी चित्त भगवान् के चरणारविन्दों म लग

गया उसने मानों समस्त तीर्थों मे स्नान कर लिया फिर एक वासना बनी ही हुई है शुभ वासना है, इसकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

इस पर देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है तो भगव अब आप वहाँ जाँयगे। अपकी आज्ञा हो तो हम यहीं सम तीर्थों को बुलाये देते हैं।"

यह सुनकर कुछ देर सोच कर मुनि बोले—"अच्छी बा है यहीं सबको बुलालो। मेरा घूमने फिरने का परिश्रम बच जायगा।"

यह सुनकर देवताओं को बडी प्रसन्नता हुई उनके लिए यह क्या बडी बात थी। तीर्थ तो सब उनके अधीन ही थे। सभी तीर्थों का देवताओं ने यहीं नैमिषारण्य मे आह्वान किया देव ताओं के आह्वान से सभी तीर्थ तुरत वहाँ दिव्य रूप रखकर पहुँच गये। मुनि जिस तीर्थ का भी नाम लेते वही मूर्तिमान होकर प्रकट होते मुनि उसमे स्नान करते। सब तीर्थों को बुलाते बुलाते जब मुनि ने तीर्थराज प्रयाग को बुलाया तो प्रयाग उप स्थित नहीं हुए। इस पर मुनि ने देवताओं से पूछा—"देवताओं प्रयागराज क्यों नहीं आये?"

इस पर घबडाये हुये हाथ जोड़कर देवता बोले—"भगवन्! आप श्रेष्ठ हैं तपस्वी हैं। भगवत् स्वरूप हैं। आपही मर्यादा का पालन न करेंगे तो ससार मे और कौन करेगा? प्रयागराज समस्त तीर्थों के राजा हैं इसीलिये वे प्रयागराज कहलाते हैं, वे साधारण तीर्थों के भाँति बुलाने से नहीं आ सकते वे सब ज्येष्ठ श्रेष्ठ और सम्माननीय हैं।"

इस पर मुनि बोले तब मैं प्रयाग स्नान कैसे करूँ?

यह सुन कर देवताओं ने शीघ्रता के साथ कहा—"ब्रह्मन्!

पाप एक प्रयाग कहते हैं उत्तरा खड में लाखों प्रयाग हैं। जहाँ दो पवित्र नदियों का सगम हो जाय वही प्रयाग कहलाता है। उत्तराखड के समस्त-प्रयागों में पच प्रयाग सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके नाम देव विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग और देवप्रयाग हैं आप इन पाँचों मे स्नान करले। सभी प्रयागों में स्नान करने का फल मिल जायगा।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है बुलाओ इन पाँचों को ही। मुनि के इतना कहते ही ये पाँचो प्रयाग दौड़े आये। मुनि ने उनमे विधिवत स्नान किया और देवताओं से बोले—"देवताओ तुम सब मिलकर मुझे वरदान दो कि ये मेरे बुलाये हुए तीर्थ आज से यहीं एक रूप से निवास करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मुनि के ऐसा कहने पर देवताओं ने हर्ष के साथ कहा—'तथास्तु, तभी से इस परम पावन पुण्यतम नैमिषारण्य क्षेत्र मे सब तीर्थ आकर रहने लगे। महा मुनि दधीचि ने अल्पतीर्थ पुरुषों के ऊपर कृपा करके समस्त तीर्थों को एक स्थान में ही बुला लिया। इसीलिये जो लोग नैमिषारण्य की परिक्रमा कर लेते हैं उन्हें समस्त तीर्थों की परिक्रमा करने का फल प्राप्त हो जाता है।"

मुनि तो निश्चिन्त होकर तीर्थों मे स्नान कर रहे थे, किन्तु देवताओं को खुटका लगा हुआ था, कि कहीं मुनि पत्नी गभस्तिनी न आ जायँ, इस बोले—"ब्रह्मन् ! वज्र बनाने का यही शुभ मुहूर्त है, आप शीघ्रता करें।

दधीचि मुनि ने कहा—"अच्छी बात है! देखो, मैं समाधि में बैठता हूँ, जब मैं समाधिस्थ हो जाऊँ तब तुम मेरे शरीर से हड्डियों को निकाल कर इन्द्र के लिये वज्र, और अपने

अपने लिये अन्य अस्त्र शस्त्र बना लेना।" इतना कहकर ऋ
समाधि में मग्न हो गये।

इन्द्र ने विश्वकर्मा से कहा—"हे शिल्पियों में श्रेष्ठ ! सर्वात्म

य मुनि की हड्डियो से मेरे लिये अमिततेज वाले वज्र को बना दीजिये।"

इस पर विश्वकर्मा ने कहा—"देवराज! यह ब्राह्मण का शरीर है! इनकी अस्थियाँ तो सम्पूर्ण अस्त्रों के तेज से युक्त किन्तु मैं ब्राह्मण के रक्त मास से आर्द्र शरीर का स्पर्श न करूँगा। यदि सूखी अस्थियाँ हों तो उनका तो मैं अस्त्र शस्त्र बना सकता हूँ। वैसे शरीर को काटूँगा छाटूँगा नहीं।" तब देवराज ने गौओं को बुलाया और उनसे बोले—"गौओ! हम तुम्हारे मुख को वज्रका बनाये देते हैं। तुम मुनि को चाटकर उनकी अस्थियों को सूखी कर दो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! देवताओं के काम के लिये उनके आदेश से गौओं ने ऐसा ही किया। अपने मुख से चाटकर मुनि की हड्डियों को ही छोड दिया। इसीलिए गौ का सर्वाङ्ग शुद्ध माना जाता है। यहाँ तक कि गोवर मे साक्षात् भगवान् नारायण की पत्नी लक्ष्मी देवी का वास है, किन्तु उनका मुख पवित्र नहीं माना जाता। इस प्रकार परोपकार के लिये उन अमित तेजस्वी मुनिने जीते जी अपने प्राण दे दिये। हँसते हँसते शरीर का त्याग कर दिया। सच है परोपकारियों के लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं।

छप्पय

परब्रह्म महँ चित्त लीन कीन्हों मुनि अपनो।
यह सब दृश्य प्रपंच लख्यो सबरो जस सपनो।।
मनकूँ करि एकाग्र तत्वमय दृष्टि करी तब।
संयत कीन्हें प्रान करी बस महँ इंद्रिय सब।।
सुरनि बुलाई सुरभि सब, चाटि मांस बिनु तनु कियो।
यों पर कारज के निमित, मुनि ने निज तनु तजि दियो।।

इन्द्र के वज्र का निर्माण और पुनः देव संग्राम

(४०४)

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मुनेः शुक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥
वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।
स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० १३,१४ श्लो०

छप्पय

सूखी हड्डी रहीं तेज युत अतिशय मन हर ।
रच्यो वज्र शुभ दिव्य विश्वकर्मा अति सुन्दर ॥
हरिको प्रविश्यो तेज सुरनि सँग मुदित भये अति ।
ऐरावत पै चढ़े सुशोभित होयँ स्वर्गपति ॥
पर उपकारी कूँ नहीं, तनिकहु तन महँ राग है ।
धनि दधीचि मुनि धन्य तप, धनि धनि उनको त्याग है ॥

जिस जीवन मे द्वन्द नहीं, युद्ध नहीं वह जीवन नहीं। ज्ञानी पुरुष द्वन्दों से रहित हैं, किन्तु वह तो जीवन से रहित जीवन मुक्त हो चुका है। पाषाणों मे भी द्वन्द नहीं। कहते तो

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् विश्वकर्मा ने मुनि की अस्थियों से वज्र बनाया उस को लेकर वे ऐरावत नाग पर बै त्रिलोकी को आनन्दित करते हुए अत्यन्त ही शोभा को प्राप्त हुए।

लोग पाषाणों को भी निर्जीव ही हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो पाषाणों मे भी जीवन है ह्रास है। वे भी घटते हैं बढते हैं, एक से नहीं रहते। एक से रहें कैसे। मन एक सा रहे तो प्राणी भी एक से रहें। मन तो क्षण क्षण पर बदलता रहता है। इस समय सात्विक है, क्षण भर में राजस् हो गया दूसरे क्षण तामस भाव उठने लगे। अभी किसी को प्यार कर रहे हैं। कुछ काल मे उससे घृणा हो गई। जो हमसे पहिले घृणा करता था, उसी से अब प्यार करने लगे। मनुष्य के हृदय मे सत् और असत् दोनों वृत्तियों का द्वन्द युद्ध सदा होता रहता है। कभी सद्वृत्तियाँ असद्वृत्तियोंको दवा लेती हैं, कभी असद्वृत्तियों पर सत्वृत्तियाँ विजय प्राप्त कर लेती हैं। इसी का नाम देवासुर सग्राम है। देवता और असुर जब तक अपने अपने पदों पर प्रतिष्ठित हैं, तब तक परस्पर में कभी प्रेम न करेंगे। देवताओं मे जब अभिमान बढ जाता है, अपने को ही सब कुछ समझने लगते हैं बडों का अपमान करते हैं, तो वे भी असुरों के समान राजसी तामसी बन जाते हैं, किन्तु उतने नहीं बन पाते जितने कि असुर हैं। असुर तो जन्म से ही—स्वभाव से ही—राजसी तामसी हैं। अत देवताओं से क्रूरता मे श्रेष्ठ ही रहते हैं। बलवान् रज और तम पर निर्बल रजोगुणी तमोगुणी विजय प्राप्त नहीं कर सकते, अत असुरा से सुर हार जाते हैं। असुर स्वर्ग पर अधिकार जमाते हैं। ऐश्वर्य भ्रष्ट हो जाने पर देवताओं को चेत होता है, वे श्रीहरि की शरण जाते

उस समय वे भगवान् के तेज से सम्पन्न थे, इसीलिये उनका बल बढा हुआ था। सभी देवता उन्हें चारों ओर से घेरे खडे थे। मुनिजन उनकी स्तुति कर रहे थे।

हैं। सर्व समर्थ होने पर भी भगवान उनके दुःख को स्वय नहीं करते। त्यागी, विरागी, निर्लोभ, वैष्णवके समीप उन्हें भे देते हैं। परोपकारी विष्णुभक्त प्राण देकर अपना मास चढाव दुखियों का दुःख दूर करते हैं औरों के सुख के लिए स्वय दुः सहन करते हैं। त्यागी महापुरुषों की सहायता से फिर सत्व व उदय होता है। फिर तमोगुण को दबाकर उस पर सत्व विज प्राप्त करता है, देवता अपने खोये हुए राज्य को पुन प्राप्त करते हैं। यह देवासुर सग्राम सदा से होता रहा है सदा होता रहेगा। स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का पद स्थिर नहीं चचल है, क्योंकि यह कर्मद्वारा प्राप्त है। १०० अश्वमेध करनेवाला अथवा उसी कोटि का अन्य पुण्य करने वाला ही इन्द्र पद का अधिकारी होगा। पुण्य पाप दोनों ही कर्मों द्वारा प्राप्त स्थान नाशवान् होते हैं। अविनाशी पद तो सद् असद् के ज्ञान से भगवद्भक्ति से प्राप्त होता है। इसीलिये इन्द्र सदा सशय ग्रस्त रहते हैं। जहाँ किसी को १०० अश्वमेध करते या घोर तप अनुष्ठान करते देखते हैं, वहाँ अनेक रूपों मे आकर विघ्न डालते हैं। क्योंकि कर्म द्वारा प्राप्त सुख सातिशय दोष से रहित हो नहीं सकता।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब भगवान् दधीचि ने स्वेच्छा से बिना आह किये अपने शरीर को देवताओं के हित के लिये त्याग दिया, तो आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। प्राण त्यागते समय उन्होंने कहा था—मैं इस अनित्य वस्तु को त्याग कर इसके बदले मे नित्य वस्तु प्राप्त कर रहा हूँ। क्षण भगुर देह को छोड़कर अविनाशी पद प्राप्त कर रहा हूँ। मैं मर नहीं रहा हूँ अमर हो रहा हूँ। जिस जीवन में शरीर का मोह है, वह जीवन मरण क तुल्य है। जो मरण परोपकार के निमित्त है, वह जावन

से भी बढ़कर महान् जीवन है। ऐसा कहकर उन्होंने परमयोग में स्थित होकर अपने प्राणों का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया। उन्हें फिर इस शरीर का कुछ भी भान नहीं रहा।

जब केवल तपस्या से पवित्र हुई मुनि की तेजोमय शुभ्र हड्डियाँ ही रह गईं, तब विश्वकर्मा शिल्पी ने तत्क्षण योग में स्थित होकर उनसे इन्द्र के अमोघ वज्र का निर्माण किया तथा और भी देवताओं के बहुत से अस्त्र शस्त्र बनाये। अब क्या था, अब तो इन्द्र का ठाठ जम गया। वृत्रासुर के मारने का शस्त्र मिल गया। शुभ अनुकूल साधन प्राप्त तभी होते हैं, जब भगवान् का तेज—उनकी अहैतुकी—कृपा—सहसा प्राप्त हो जाय। आज इन्द्र भगवान् के तेज से सम्पन्न हो गये। अहङ्कार के कारण जो उनका बल क्षीण हो गया था, वह परोपकारी मुनि की अस्थियों के संसर्ग से तथा भगवत्कृपा से पुनः आ गया अब वे सबल बन गये। सभी देवता उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये। चार दाँत वाले कैलास शिखर के समान स्वच्छ और विशाल ऐरावत की पीठ पर बैठे हुए इन्द्र इसी प्रकार दिखाई दिये मानो कैलाश में छिपे दैत्यों के संहार के निमित्त उसके विशाल शिखर पर स्वयं साक्षात् भगवान् श्रीमन्नारायण विराजमान हों। बड़े-बड़े ऋषिमुनि सामवेद की सुमधुर छन्दों द्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे। इस पर देवताओं को हर्षित करते हुए इन्द्र अमोघवज्र को हाथ में लेकर असुरों से युद्ध करने चले।

उस समय क्रोध के कारण उनका मुखमण्डल अग्नि के समान प्रतीत होता था। वे प्रलय काल में क्रोधित हुए रुद्र के समान वज्र रूप त्रिशूल को लिये हुए उसी प्रकार असुरों के झुण्ड पर झपटे जैसे भगवान् त्रिपुरारी त्रिपुरासुर के तीनों पुरों को नष्ट करने के निमित्त दिव्य रथ पर चढ़कर दौड़े थे। इन्द्र अपने

प्रबल पराक्रमी शत्रु वृत्र का संहार करना चाहते थे। अब क्या था दोनों ओर से तुमुलयुद्ध की तत्परता के साथ तैयारियाँ होने लगीं। उधर असुरों को साथ लिये हुए मदराचल पर्वतके समान वृत्रासुर खडा था। इधर देवताओं से घिरे हुए देवराज इन्द्र वज्र का हिला रहे थे, क्रोध से ओठों को काट रहे थे। दोनों हा यह देवासुर संग्राम प्रथम चतुर्युगी के त्रेता युग के मध्य में नर्मदा नदी के तटपर हुआ था।

असुरों ने देखा जिन देवताओं को हमने पहिले पराजित कर दिया था, वे ही आज फिर इन्द्र को अग्रणी बनाकर हमसे युद्ध करने के लिए उद्यत हैं। इन्द्र का मुखमंडल कमल के समान खिला हुआ है। एकादश रुद्र अपना भयकर आँखों को नचाते हुए असुरोंकी ओर निहार रहे हैं। आठों वसु अपने अपने अस्त्रों का घुमाते हुए युद्ध कला दिखा रहे हैं। बारह आदित्य अपने तेज के द्वारा रणाङ्गन को तेजोमय बनाए हुए हैं। दोनों अश्विनी कुमार ओषधियो को लिये हुए स्वय युद्ध करने के लिये उत्साह पूर्वक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए खडे हैं। पितृगण एक ओर अपना दल बनाये मारने को उद्यत हैं ४९ अग्नियाँ अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओं से युक्त धूएँ की ध्वजा से शोभित समीप ही असुरों को भस्म करने को समुपस्थित हैं। मरुद्गण, ऋभुनामक यज्ञ के विघ्नों का दूर करने वाले देवता तथा साध्य गण और विश्वेदेवादिक गण इन्द्र को घेरे हुये असुरों के दाँत खट्टे करने के लिय उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। यह देखकर असुरों को बडा क्रोध आया। उन्होंने इसे अपना घोर अपमान समझा।

वृत्रासुर ने जब सम्मुख ऐरावत पर चढे हुए हाथ में वज्र लिये इन्द्र को देखा, तब तो मारे क्रोध के उसकी आँखें लाल लाल हो गईं। वह भी अपने अस्त्र शस्त्रों को लिये हुए बड़े

उत्साह से देवताओं के सम्मुख युद्ध करने के लिए आया। वह सब असुरों का नायक था। उसको चारों ओर से घेर कर रण दुर्मद प्रबल पराक्रमी समर विजयी बड़े बड़े शूर वीर असुर खड़े थे। जिनमें नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, अम्बर, हयग्रीव, शकुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति आदि प्रधान प्रधान थे। असुरों का पक्ष लेने के लिए दैत्य दानव, यक्ष राक्षस तथा और भी क्रूरकर्मा उपदेव उपस्थित थे। जो माली, सुमाली आदि राक्षस अजेय समझे जाते थे, वे भी सुवर्ण के अलङ्कारों से विभूषित होकर बड़े बड़े अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए सेनाके अग्रभाग मे खड़े थे। ये सब के सब साक्षात् दण्डपाणि यमराज के सदृश दिखाई पड़ते थे, सब मे अमित परा क्रम था सभी संग्रामके लिये समुत्सुक थे, सभी अत्यन्त मदोन्मत्त होकर उत्साह मे भरे हुए युद्ध के लिए उत्सुक थे।

जब दोनों ओर की सेनायें सुसज्जित हो गईं, तब तो समर का बाजा बजने लगा। दोनों ओर से प्रहार होने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया मारो काटो, जाने मत देना। देख तू मेरे सामने से बचकर नहीं जा सकता ? मेरे बाणों को सहन कर। अच्छा मैं खड़ा हूँ, तुम प्रहार करो। इस प्रकार के उत्साह वर्धक शब्द सुनाई देने लगे खड्ग खड़कने लगे। दोनों ओर से गदायें घुमाई जाने लगीं। परिघ फेंके जाने लगे। जिस प्रकार श्रावण भादों में आकाश से जल की वृष्टि होती है उसी प्रकार बाणों की वृष्टि होने लगी। युद्ध इतना तुमुल हो गया कि यह निर्णय करना कठिन था, कि ये अस्त्र शस्त्र देवताओं की ओर के हैं या असुरों की ओरके। प्रास, मुद्गर, तोमर आदि अस्त्र शस्त्र चलाये और फेंके जाने लगे। त्रिशूलोंसे सैनिकों के हृदय वेधे जाने लगे। फरसा और खड्ग से एक दूसरे के सिर धड़ से काटने लगे।

शतघ्नियों की गड़गड़ान तडतडान के कारण दशो दिशायें भर गईं। दैत्योंकी सेना ने देवताओं को उसी प्रकार ढक लिया जैसे कमल की बेल सरोवर के जल को ढक लेती है, अथवा मेघ-माला आकाश के तारागों को ढक लेती है, अथवा गौओं के खुरों की उडी हुई धूलि उस दिशा के वृक्षों को ढक लेती है।

देवता तो सावधान थे। अबकी वे अभिमान के वशाभूत होकर अपने बल से नहीं लड रहे थे, उन्हें दैवबल प्राप्त था। श्रीहरि की आज्ञा से उन्हीं का तेज पाकर वे युद्ध कर रहे थे। दधीचि मुनि का तप, तेज, त्याग, प्रभाव और बल उन्हें अस्त्रों के द्वारा प्राप्त था। अत वे असुरों के इतने प्रबल प्रहार से न तो भय भीत ही हुए और न अपने अपने स्थानों से तिल भर, पीछे ही हटे। वे असुरों की बाणवर्षा को उसी प्रकार अडिग होकर सहते रहे जैसे हिमालय के बडे बडे शिखर घनघोर वर्षा को बिना किसी प्रयास के सहते रहते हैं। असुरों के बाण देवताओं को स्पर्श तक नहीं करते थे, वे देवताओं के अङ्ग में जाकर उसी प्रकार व्यर्थ हो जाते, जैसे कृतघ्नी के साथ किया हुआ उपकार अथवा कृपण के सम्मुख की हुई याचना, अथवा जितेन्द्रिय के सम्मुख किये हुए कामोद्दीपक हाव भाव व्यर्थ हो जाते हैं। असुरों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगादी, समस्त अमोघ समझे जाने वाले अपने अस्त्र शस्त्रों का उन्होंने प्रयोग कर दिया। किन्तु देवताओं का बाल भी बाँका नहीं हुआ।

अब तो असुरों को सदेह होने लगा। फिर भी वे निराश नहीं हुए। अस्त्र शस्त्रों के समाप्त होने पर वे पर्वतों के शिखरों को बड़े बड़े वृक्षों को उखाड उखाड़ कर देवताओं के ऊपर फेंकने लगे, किन्तु उन सब को देवता गण अपने तीक्ष्ण बाणों से उसी

प्रकार काट कर गिरा देते थे, जिस प्रकार बाज आकाश में उड़ते हुए पक्षी को घायल करके नीचे गिरा देता है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार जब देवताओं की समस्त सेना को असुरों ने अपने अस्त्र शस्त्रों से अक्षत देखा तथा पर्वत और वृक्षों के प्रहारों को भी व्यर्थ हुआ समझा तब तो असुरगण बड़े घबड़ाये। अब उनका उत्साह ढीला पड़ गया। देवसेना को अनाहत और सकुशल देखकर और स्वयं देवताओं के अस्त्र शस्त्रों से क्षत विक्षिप्त होकर असुर गण रण छोड़कर भाग खड़े हुये। सुर सेना में सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। असुरों की इस कायरता को देखकर वृत्रासुर दुःखी हुआ किन्तु वह अपने स्थान से विचलित नहीं हुआ। सुमेरु पर्वत की शिखर के समान जहाँ का तहाँ ही खड़ा रहा।

छप्पय

सब सुर शस्त्र सम्हारि समर महँ सजि बजि धाये।
उत तैं असुरहुँ अस्त्र शस्त्र लेके चढ़ि आये॥
गदा, परिघ, शर शूल लगे बहु अस्त्र चलन तहँ।
रण के बाजे बजें बीर बर लड़ें समरमहँ॥
देवासुर संग्राम अति, भयो भूमि पर भयंकर।
सुर सेना विजयी भई, भगे असुर तजिकैं समर॥

भागते हुये असुरों को देखकर वृत्र के वीरोचित उद्‌गार

(४०५)

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः
प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता।
लोके यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुम्,
को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १० अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

असुरनि भागत देखि वृत्र बोल्यो वर बानी।
अरे, असुरगन समर त्यागि का मन महँ ठानी॥
जाओगे भगि कहाँ मृत्यु तो सन्मुख आवे।
बिना काल के मृत्यु कहू ढिँग नहिँ आवे॥
जो जग महँ पैदा भयो, सो निश्चय ई मरेगो।
तो फिर मरि के वीर वर, क्यों न अमर यश करेगो॥

जो मनस्वी हैं, भगवद् भक्त हैं, बली तथा सामर्थवान हैं, वे कहीं रहें किसी योनि में क्यों न हों उनकी महत्ता न जायगी।

---

* वृत्रासुर भागते हुए असुर से कह रहा है—"अरे असुरो!, देखो जो भी प्राणी उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, दैव ने उसे निवारण करने का कोई भी उपाय नहीं रखा। जब यही बात है तब वध्य

उदार चेता महापुरुष जिस क्षेत्र मे भी कार्य करेंगे, वहीं यश प्राप्त करेंगे। हृदय की क्षुद्रता मन की दुर्बलता चाहे जिस पुरुष मे हो, वही संसार मे अपयश प्राप्त करता है। देवेन्द्र त्रैलोक्य के स्वामी हैं, यज्ञो मे वेदज्ञ ब्राह्मण उनका बड़े सत्कार से आवाहन करते हैं और सभी देवताओं से पूर्व वे पूजे जाते हैं, किन्तु जब वे भी अपने पद की रक्षा के निमित्त क्षुद्रता के कार्य करते हैं तो कोई भी उन्हे भला नहीं कहता है उनकी निन्दा ही होती है, इसी प्रकार असुर योनि होने पर भी जो भगवद् भक्त हैं वे पूजनीय वन्दनीय और स्मरणीय माने जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! असुरों ने सम्पूर्ण बल लगाकर सुरो को पराजित करना चाहा किन्तु असुरो के वे प्रहार उसी प्रकार व्यर्थ हुए जैसे खड्ग का प्रहार दृढ पाषाण शिला पर व्यर्थ होता है। अथवा जल मे आग्नेय अस्त्र व्यर्थ होते हैं अथवा मदोन्मत्त हाथी मे मारे हुए अकुश व्यर्थ होते हैं अथवा नीच पुरुषों द्वारा दी हुई गाली कहे हुए कुवाच्य महा पुरुषों के सम्मुख व्यर्थ होते हैं। आज तो देवता असुरों से बढ चढ कर थे। आज तो उन्हें भगवद् अनुग्रह प्राप्त था। दधीचि मुनि की तपोमय अस्थियों से बने अस्त्र शस्त्रो के सम्मुख असुरों के साधारण अस्त्र शस्त्र व्यर्थ बन गये। दूसरा कोई उपाय न देखकर अपने सेनापति और स्वामी वृत्र को वहीं रण मे खड़ा छोड़कर असुर समर छोड़कर भाग खड़े हुए।

अपने असुर अनुयायियों को युद्ध से भयभीत होकर भागते देखकर अत्यत ही ओजस्वी भाषा में गभीर स्वर से सबको

मृत्यु से इस लोकमें यश तथा परलोक में भी सद्गति प्राप्त हो तो ऐसी सुन्दर मृत्यु को कौन सहर्ष स्वीकार न करेगा?

सम्बोधित करते हुए वृत्रासुर बोला। उसने ललकार कर कहा—अरे, ओ विप्रचित्ते ! राम राम छि छि इतने शूरवीर होकर तुम गीदड़ों की तरह भाग रहे हो ? भैया नमुचि ! अरे तुम तो सबसे श्रेष्ठ समझे जाते थे। असुर वश मे तुम्हारी शूरवीरता की तो बड़ी ख्याति थी। अजी, पुलोमन् ! तुम इन्द्र के श्वसुर होकर युद्ध से कायरों की तरह भागे जा रहे हो। हे मय ! तुम तो असुरों के विश्वकर्मा हो। तुम तो समस्त माया के अधिपति हो, अपनी करामात दिखाओ। इन देवताओं पर कुछ माया चलाओ। हे शम्बर ! हे अनर्वन् ! तुम इतने बड़े शूरवीर पराक्रमी होकर युद्ध से पीठ देकर डर से भागे जा रहे हो, यह तुम्हारे यश के अनुरूप नहीं।"

तुम कह सकते हो—"प्राण सबको प्यारे हैं। जीवित रहने की इच्छा वाले प्राणी के लिये मृत्यु से बढकर कोई दुःख नहीं। सो, ठीक है किन्तु तुम बताओ इस ससार मे अमर कौन है। जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा ! ब्रह्माजी भी चाहें कि पैदा होने वाले की मृत्यु न हो तो वे भी इसे रोक नहीं सकते। इन १४ भुवनों के रचयिता ब्रह्माजी भी अपनी आयु के १०० वर्ष पूरे करके बदल जाते हैं। जब मृत्यु निश्चित ही है, अवश्यभावी है, किसी प्रकार उसका प्रतीकार है ही नहीं, तब फिर उससे डरने से लाभ क्या ? तब तो ऐसा अवसर खोजते रहना चाहिए कि एक पन्थ दो काज हो जायँ। ऐसी मृत्यु की बाँछा रखनी चाहिए कि जिससे इस लोक में सुयश और परलोक में सद्गति प्राप्त हो। शूरवीर के लिये, युद्ध में बढकर सम्मुख लड़कर मरने के अतिरिक्त दूसरी कोई श्रेष्ठ मृत्यु है ही नहीं। नीच पुरुष ही घर में रहकर खाट पर पड़े पड़े सड़कर मरते हैं। ससार में दो ही मृत्युएँ श्रेष्ठ बताई गई हैं। या तो योग

के द्वारा ब्रह्म चिन्तन करते हुए दशमद्वार से शरीर त्याग किया जाय अथवा सम्मुख समर में सेना का अग्रणी बनकर वक्ष स्थल में शत्रु प्रहार से प्राणों का उत्क्रमण हो। रोग शैया पर पड़े पड़े खों खों करते हुए घर वालों को दुःख देते हुए मल मूत्र से लिपटे हुए परिवार वालों से घिरकर कष्ट से मरना यह सबसे निकृष्ट मृत्यु है। इसलिए हे असुरो! तुम इन निर्बल देवताओं से डरो मत। मेरे रहते हुए ये तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न कर सकेंगे। आओ, लौट आओ साहस को मतखोओ समर में शस्त्रों की प्रधानता नहीं होती। साहस ही प्रधान समझा जाता है। जैसे अनेकों बार तुमने देवताओं को परास्त किया है, वैसे ही अब के भी करो। प्राणों के मोह से कायरों की भाँति रण छोड़कर भागना उचित नहीं।"

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—'राजन्! वृत्रासुर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धि लगाकर असुरों को समझाना चाहा किन्तु उनकी वक्तृता का उन सब पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे सब तो देवताओं के दिव्यास्त्रों से इतने अधिक पीड़ित हो गये थे, कि प्राण बचाकर दशों दिशाओं में भागने लगे।

काल ही जय, पराजय, बली अबली होने में प्रधान कारण है। आज का काल देवताओं के अनुकूल था, असुरों के प्रतिकूल था, इसीलिये असुर पराजित होकर भाग खड़े हुए। भागती हुई असुर सेना को देवतागण खदेड़ने लगे। इन्द्र अपने वज्र से भयभीत हुए असुरों का संहार करने लगे। वे रण से भागने वाले दैत्यों के पीछे प्रहार करने लगे।

इन्द्रके इस अधर्माचरण को देखकर दैत्याधिपति वृत्र अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ। वह दाँतों को पीसता हुआ, क्रोध से लाल लाल आँखें करके मेघ गंभीर वाणी से इन्द्र को डाँटता डपटता हुआ

बोला—"अरे निर्लज्ज इन्द्र तुझे इन भागते हुए वीरों पर प्रहार करने में लज्जा भी नहीं आती। प्रतीत होता है जैसे माता के पेट से विष्ठा निकलता है, उसी प्रकार तू माता के उदर का मल है शुक्र का कीड़ा है। अरे जो स्वय ही डर कर अस्त्र शस्त्र छोड़कर रण से भाग रहा है, उस मरे हुए को क्या मारना वह तो तभी मर गया जब उसने प्राणों के मोह से भाग कर प्राण बचाने की चेष्टा की। ऐसे युद्ध से पराङ्मुख हुए शत्रु सैनिकों को मारना कभी भी प्रशसनीय और वर्गप्रद नहीं कहा जा सकता। तुम कह सकते हो, शूरवीरों को युद्ध अत्यन्त प्रिय होता है इसलिये जब भी शत्रु से युद्ध का अवसर आ जाय, तभी उससे लड़ना चाहिए। उसे निर्बल बना देना चाहिए। सो, यह भी तुम्हारी बात ठीक नहीं। धर्मात्मा पुरुषों ने युद्ध के बहुत से नियम बताये हैं उनमें सोये हुओं पर, प्रमत्तों पर उन्मत्तों पर, स्त्रियों पर, युद्ध से अनभिज्ञों पर, भागते हुओं पर, शरण में आये हुओं पर और वाहन शस्त्र से रहित सैनिकों पर प्रहार करना पाप बताया गया है। तुझ में यदि कुछ साहस है, तो मुझ से आकर लड़। यदि तू मरना चाहता है, विषय भोगों से उपराम हो गया है, तो क्षण भर मेरे सामने ठहर। अधर्म युद्ध करके अपकीर्ति क्यों व्यर्थ में ले रहा है। क्यों नरक के मार्ग को प्रशस्त कर रहा है। मेरा सामना होते ही तू सब अस्त्र शस्त्रों को भूल जायगा।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कहते हैं—'राजन्! उस महारथी प्रबल पराक्रमी पर्वत के समान डील डौल वाले असुर ने देवराज को अनेकों भाँति से डाँटा डपटा और हिमालय के शिखर के समान अपने लंबे तगड़े शरीर से देवताओं को भयभीत करता हुआ उनकी ओर मूर्त्ते पाप के समान दौड़ा। वह

प्रलय कालीन मेघ के समान भयकर गर्जना कर रहा था। मदोन्मत्त सिंह के समान उसकी भयकर दहाड को सुनकर देवताओं के छक्के छूट गये। उसकी दहाड से भयभीत होकर बहुत से देवता सज्ञाशून्य होकर भूमि पर गिर पडे। अब रोष में भर कर रणरग दुर्मद वृत्रासुर हाथ मे त्रिशूल लेकर इन्द्र की ओर दौडा। इन्द्र भी अपने ऐरावत पर सम्हल कर बैठ गये और वज्र को घुमाते हुए वृत्र की ओर बढे।

छप्पय

असुरनि कूँ यों वृत्र धर्मयुत वचन सुनाये।
किन्तु समर तें भगे एक हू नहि मन भाये॥
असुर प्राण लै भगे देवता तिन्हें खदेरें।
लड़ें भिड़ें नहिं तऊ जाइ सुर पुनि पुनि घेरें॥
वृत्रासुर अन्याय लखि, करे इन्द्र तें कटु वचन।
अरे अधरमी धर्म तजि, करे काहि यह कपट रन॥

वृत्रासुर और इन्द्र की मुठभेड़

(४०६)

दिष्ट्या भवान्मे समवस्थितो रिपु—
यों ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया
मच्छूलनिर्भिन्नदृपद्दृदाचिरात् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ११ अ० १४ श्लो०

छप्पय

है पुरुषारथ तेज ओज बल तोमें सुरपति।
तो करि मोतें युद्ध करूँ तेरी अब दुर्गति॥
मेरे सम्मुख आउ समर को मजा चखाऊँ।
अबई तोकूँ मारि मृत्यु के सदन पठाऊँ॥
यों कहि के गर्जन करी, सुनि रव सबरे सुर डरे।
वज्राहत के सरिस ह्वै, देव अवनि पै गिर परे॥

धर्मात्मा पुरुष से सभी डरते हैं। प्राण संकट आने पर भी धर्मात्मा सत्य को धर्म को नहीं छोड़ते। यही उनमें विशेषता

---

*सम्मुख आये हुए देवराज इन्द्र से वृत्रासुर कह रहा है—"अहा, बड़े सौभाग्य की बात है जो आज आप मेरे सम्मुख उपस्थित हो हुए? तू मेरे भाई को मारने वाला ब्रह्महत्यारा और गुरु द्रोही है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आज मैं तुझे अपने शत्रु का पाषाण

इसीलिये वे मर कर भी अमर ही बने रहते हैं। जो प्राणों के धन के विषय भोगों के लोभ से सत्य को खो देते हैं, उन्हें चाहे ये वस्तुएँ मिल जायँ, ऊपरी विजय प्राप्त करके वे जीवित रह गये किन्तु उनकी यह विजय पराजय के सदृश है, यह जीवन मरण के तुल्य है। धर्म मय जीवन ही जीवन है। प्रभु के पाद-पद्मों में प्रेम होना ही सच्चा धन है। भगवान् के दर्शन हो जायँ, यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। चित्त श्रीहरि के चरणारविन्दों में लग जाय यही उनके लिए महान् प्रसन्नता की बात है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वृत्रासुर ने इन्द्र को इस प्रकार ओजस्वी वाणी में ललकारा तो इन्द्र सम्हल कर वृत्रासुर की ओर बढे। अब तो वृत्र के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। वह परों वाले पहाड़ के समान हाथ में त्रिशूल लेकर आगे बढा। जिस प्रकार क्रोधित हुआ साँड आँखें मीच कर प्रहार करता है, उसी प्रकार नेत्र बंद करके वह सुर सेना में घुस पडा। किसी को हाथों से ही पकड कर मसल देता, किसी को पैरों के नीचे ही दबाकर कुचल देता, किसी को, कोहनी से ही रगड देता। किसी को पकडकर निगल जाता, किसी को घुमाकर फल की भाँति दूर फेंक देता। किसी को त्रिशूल से वेध कर आकाश में नचाता। उस वीर के ऐसे कर्म को देखकर देव सेना घबडा गई, देवता उसी प्रकार दशों दिशाओं में भागने लगे जैसे भेडिये को देखकर भेड भागती हैं अथवा सिंह को देखकर मृगों के झुण्ड इधर उधर भागने लगते हैं।

इन्द्र ने देखा कि यह असुर तो प्रलयानल के समान मेरी

सहश हृदय का अपने त्रिशूल से विदीर्ण करके भ्रातृऋण से उऋण हो जाऊँगा। हे महानीच! अब तू अधिक जीवित नहीं रह सकेगा।

सेना का सहार कर रहा है, यदि यह इसी प्रकार युद्ध करता रहा, तब तो मेरी सेना में एक भी सैनिक शेष न रहेगा। अत उस असुर को मारने के लिये ऐरावत पर बैठे ही बैठे इन्द्र ने एक अत्यन्त वलवती कभी व्यर्थ न होने वाली प्रचड गदा दूर से ही फेंकी। इन्द्र समझते थे, इस अमोघ गदा के लगते ही वृत्रासुर मर जायगा, किन्तु उस दुर्मद असुर ने उस गदा को बायें हाथ से खेल खेल मे उसी प्रकार पकड लिया जैसे बच्चे 'गेहूँ जौ के फूँस को पकड लेते हैं।

वृत्रासुर के हाथ मे तो त्रिशूल के अतिरिक्त कोई दूसरा अस्त्र शस्त्र था ही नहीं। अब इन्द्र की एक अमोघ गदा उसके हाथ मे अपने आप ही सरलता से आ गई, अत उसने उसी गदा को तान कर बडे वेग से इन्द्र के ऐरावत हाथी के मस्तक पर सम्पूर्ण वल से मारा। गदा के लगते ही ऐरावत का मस्तक फट गया और वह रक्त उगलता हुआ वहाँ से इन्द्र को लेकर कुछ पीछे हट गया। वृत्रासुर की ऐसी वीरता देखकर सभी उसकी प्रशसा करने लगे। इन्द्र का उत्साह भग हो गया, किकर्तव्य विमूढ से बन गये।

इन्द्र का ऐरावत बुरी तरह से घायल हो गया था, इन्द्र देवेन्द्र भी वृत्र के प्रबल पराक्रम से व्यथित होकर व्याकुल हो गये थे। वृत्रासुर चाहता तो ऐसे अवसर पर इन्द्र पर प्रहार करके उसे नीचे गिरा सकता था। किन्तु वह धर्मात्मा और भगवत् भक्त था। उस शूर वीर महामना ने ऐसा विरुद्ध कार्य नहीं किया। असावधान इन्द्र पर उसने पुन प्रहार नहीं किया। इन्द्र ने जब देखा कि मेरा वाहन वृत्र का गदा से अत्यन्त व्यथित होकर तिलमिला रहा है, उसे असह्य पीडा हो रही है, तो इन्द्र ने अपने अमृत स्रावी हस्त से उसके घाव पर हाथ फेरा।

अमृत के स्पर्श से ऐरावत का घाव तुरत भर गया और वह स्वस्थ हो गया। वाहन के नीरोग और स्वास्थ हो जाने पर इन्द्र भी सम्हल गये, उन्होने भगवान् के वरदान का स्मरण किया। वे तुरत वीरोचित कर्तव्य को स्मरण करके पुन रणभूमि मे आकर वृत्रासुर के समुख युद्ध करने के लिये उपस्थित हुए और ललकार कर बोले—"अरे, ओ! अधम असुर तू मेरे वाहन पर प्रहार क्यों करता है, मुझसे युद्ध कर, आज मैं तुझे मार कर अपने गए हुए स्वर्ग के राज्य को पुन प्राप्त करूँगा।

इन्द्रकी ऐसी वीरता पूर्ण बातें सुनकर वृत्रासुर दशों दिशाओं को अपने अट्टहास से गुँजाता हुआ खिल खिलाकर हँस पडा और अत्यत क्रोध मे भर कर इन्द्र की नीचता और विश्वरूप वधका स्मरण करके, क्रोधसे लाल लाल आँखे निकाल कर इन्द्र से व्यग पूर्ण वचनो मे कहने लगा।

वृत्र ने इन्द्र का परिहास किया और बोला—"धन्यवाद' धन्यवाद! आप युद्ध करने आये हैं। बड़े सौभाग्य की बात है, कि आज आप को भी शूर वीरता सूझी है। अरे, नीच तू धर्मात्माओं से युद्ध करने योग्य है ही नहीं। तुझे यदि कुछ भी लज्जा होती तो तू किसी को अपना काला मुख दिखाता ही नहीं, तू सज्जनों के सम्मुख खड़े होने योग्य ही नहीं।

इस पर इन्द्र ने कहा—"मैंने तो भाई तेरा कुछ अपराध किया नहीं। असुर मेरे ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या करते हैं। तू असुर है, अत उनका पक्ष लेकर व्यर्थ मुझसे युद्ध कर रहा है।

यह सुनकर वृत्रासुर ने कहा—"अरे, अधम! शरीर को कष्ट देने वाला ही शत्रु नहीं होता। जो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री पुत्र आदि से द्वेष करता है, या धन, घर, भूमि आदि का अपहरण करता है, वह भी शत्रु ही

है। तैंने मेरे बड़े भाई विश्वरूप का वध किया है। अतः तू

आततायी मेरा शत्रु है। तू महापापी है तैंने ब्राह्मण का वध किया

है। ब्राह्मण भी साधारण नहीं, जिसे तैंने गुरु मानकर पूजा था जिसे पुरोहित के सिंहासन पर बिठाया था उसे तूने युद्ध में नहीं छल से मारा है। तू ब्रह्म हत्यारा है। तेरे ऊपर दया करके पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियों ने तेरी ब्रह्महत्या बाँट ली। फिर भी मेरे भाईका मारने वाला तो है ही। आज मैं तेरे पाषाणके समान कठोर हृदय को अपने तीक्ष्ण त्रिशूल से भेदकर तेरा अत कर दूँगा। तेरे पापों का तुझे फल चखा दूँगा। जिस प्रकार यज्ञ में स्वर्ग की कामना वाले याज्ञिक बलि पशु का सिर धडसे काटते हैं। तैंने भी तो ऐसा किया था। मेरे आत्मज्ञानी निर्दोष धमज्ञ यज्ञ दीक्षित भाई का तैंने कपट से वध किया था।

यह सुनकर लज्जित हुए इन्द्र ने कहा—"मैं तीनों लोकों का स्वामी सर्वसमर्थ इन्द्र हूँ जिसके द्वारा लोक का अपकार हो ऐसे आततायी का मैं चाहे जैसे वध कर सकता हूँ।"

इस पर क्रुद्ध होकर वृत्रासुर ने कहा—"अब तू इन्द्र कहाँ रहा? अब तो तू अपने पाप से अधम बन चुका। अब तो तुझे ह्री, श्री, दया और कीर्ति आदि छोड चुकी हैं तू अपने कुकर्मों के कारण श्रीहीन और लोक निन्दित हो चुका है। धर्मात्माओं की बात तो पृथक् है, क्रूरकर्म, मांसभोजी, यक्ष, राक्षस भी तेरे इस अत्यन्त गर्ह्य कर्म की किसी ने भी प्रशंसा नहीं की। तेरे पाप का घड़ा भर गया है, अब तेरी दुर्गति होगी तुझे मारकर मैं फेंक दूँगा, तो तेरी कोई क्रिया भी न करेगा। तुझे गिद्ध, चील्ह, सियार खायँगे। तुझे यह घमड हो कि ये अग्नि, वरुण, कुबेर मेरे साथ हैं, ये मुझे बचालेंगे। सो, इन सबको अपने त्रिशूल से काट काटकर भूतपति भगवान् रुद्र की बलि चढ़ाऊँगा। पशु की भाँति इन्हें समर यज्ञ में मारकर यमसदन पठाऊँगा।"

वृत्रासुर की ऐसी बातें सुनकर इन्द्र ने गरजकर बड़े उत्सा॰ के साथ उसे डाँटते हुए कहना आरम्भ किया—"अरे, नीच असुर! तू इतनी बढ बढ कर बातें क्यों कर रहा है। मैं अपने बल पर नहीं खडा हूँ। मुझे भगवान् का बल प्राप्त है। ग्हा की आज्ञा से मैं तुमसे लडने आया हूँ। यह मेरे हाथ मे महर्षि दधीचि की तप और तेजवाली अस्थियों का वज्र है इसमे भगवान् की शक्ति ने प्रत्यक्ष प्रवेश किया है, तू इससे किसी प्रकार बच नही सकता। मैं इस वज्र से तेरे दर्प युक्त दैत्यों के दल का दलन करके तेरे मस्तक को धड से अलग कर दूँगा तू यहीं कुत्ते का मौत मर जायगा। क्षण भर तू जितना चाहे बड बडाले।"

भगवान् की स्मृति होने से परम भगवद् भक्त वृत्रासुर की आँखों मे प्रेमाश्रु छलकने लगे। उसका हृदय भर आया कठ गद् गद् हो गया। वाणी रुद्ध हो गई। आँसू पोंछकर उसने कहा—"देवेन्द्र! देखो, मेरे तो दोनों हाथों मे लड्डू हैं, यदि मैं समर में तुम देवताओं को जीत सका तब तो स्वर्ग के राज्य को निष्कटक भोगूँगा और यदि तुमने मुझे परास्त कर दिया, मुझे युद्ध भूमि में अपने वज्र से मार डाला, तो मैं कर्मबन्धन से छूटकर मोक्ष पद का अधिकारी होऊँगा। मेरे इस इतने विशालकाय शरीर को मास भोजी जीव भक्षण करेंगे। डाकिनी साकिनी राक्षस, भूत प्रेत मेरे रक्त का पान करेंगे। सम्पूर्ण भूतों को इस शरीर की बलि अर्पण करके धीर पुरुषों के पद को प्राप्त हो जाऊँगा।"

हँसते हुए देवेन्द्र ने कहा—"अब तेरी बुद्धि ठीक ठिकाने आई, यथार्थ में तू मुमुर्षु है, अब तू मरने ही वाला है। मरने से पहिले जैसे बात के प्रकोप में आदमी बड़ बड़ाता है उसी

प्रकार पहिले तू बड़बड़ा रहा था।"

यह सुनकर वृत्रासुर ने कहा—"देवराज ! यदि तुम्हारे वज्र में भगवान् प्रवेश कर गये हैं, तो तुम उस वज्र को मेरे ऊपर छोड़ते क्यों नहीं। भगवत् शक्ति के सम्मुख मैं सिर झुकाये खड़ा हूँ। अपने अद्भुत अमोघ अस्त्र को अब तुम मेरे ऊपर छोड़ दो। तुम तनिक भी इस बात में संदेह न करो, कि जैसे तुम्हारी गदा पहिले असफल हुई थी, उस प्रकार यह वज्र भी असफल हो जायगा। अरे, भैया ! यह वज्र तो महामुनि दधीचि की पावन अस्थियों से बना है, इसमें मेरे स्वामी भगवान् का तेज व्याप्त है, यह उसी प्रकार असफल न होगा, जैसे उदार पुरुषों के सम्मुख की हुई याचना कभी असफल नहीं होती। तुम्हें भगवान विष्णु ने लड़ने भेजा है। फिर तुम अपनी विजय में संदेह क्यों करते हो ? तुम्हारी विजय तो अवश्य म्भावी है, क्योंकि जिधर श्रीहरि हैं उधर ही विजयलक्ष्मी और समस्त सद्‌गुण चले जाते हैं। जब तुम भगवान् की आज्ञा से उनके बताये हुए उपाय से दधीचि मुनि की अस्थि के बने वज्र से मुझे मारने आये हो तो मेरी मृत्यु अवश्य होगी, किन्तु मैं मरकर भी अमर हो जाऊँगा। गुरु भगवान् संकर्षण के बताये हुए मार्ग द्वारा मैं उन्हीं श्रीहरि के पादपद्मों का ध्यान करता हुआ संसारी विषयों की ममता को त्यागकर योगियों की गति को प्राप्त हो जाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाभाग वृत्र भगवत्

स्मृति हो जाने से अपने असुर भाव को भूल गये और भगवान् का अनन्य भाव से ध्यान करने लगे।

छप्पय

असुर पराक्रम निरखि इन्द्र ने गदा चलाई।
तुरत वृत्र ने छीनि इन्द्र गज माँहि घुमाई॥
ऐरावत सिर लगी फट्यो मुँह अति घबरायो।
तिलमिलाय के हट्यो बहुत सो रुधिर बहायो॥
व्याकुल सुरपति कूँ लख्यो, पुनि प्रहार कीयो नहीं।
सम्हरि समर सम्मुख भयो, वृत्र बात कडवी कही॥

रण में वृत्रासुर को भगवद्दर्शन

(४०७)

अह हरे तव पादैकमूल—
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणास्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥
(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

वृत्र कहें रे इन्द्र ब्रह्म हत्यारे पापी ।
अब ई मारूँ तोइ असुर कुल के संतापी ॥
अथवा मैं ई दिव्य अस्त्र तें यदि मर जाऊँ ।
तो हरि सुमिरन करत मोक्ष पदवी कूँ पाऊँ ॥
भक्त शिरोमणि असुरवर, ध्यान मग्न यों कहि भये ।
श्री हरि ने तब वृत्र कूँ, समर माँहिँ दर्शन दये ॥

प्रिय की स्मृति में कितना सुख है, इसे प्रेमी के अतिरिक्त कोई दूसरा जान नहीं सकता । अपने प्रिय का जहाँ स्मरण हुआ,

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! युद्ध में जब वृत्रासुर को भगवान् के दर्शन हुए तब वे भगवान् की स्तुति करते हुये कहने लगे—"हे हरे ! मैं मरकर भी आपके चरणारविन्दों के आश्रय में रहने वाले दासों का भी अनुदास होऊँ। मेरा मन आप प्राण नाथ का

तहाँ चित्त तन्मय हो जाता है। यह दृश्य प्रपच भूल जाता है
प्यारे का नाम सुनने से, उसके सम्बन्ध की चरचा चलने
उसके समीपवर्ती वस्तु के दर्शन से, उसके अनुरूप अन्य किसी
वस्तु के साम्य से प्यारे की छवि नैनों मे छा जाती है। फिर मन
अपने आपे मे रहता नहीं। बाह्य सभी व्यापार विस्मृत हो जाते
हैं, ससारी सभी कार्य छूट जाते हैं। अपने पराये का भेद मि
जाता है। बस वे ही वे दिखाई देते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर को इन्द्र क
स्मरण करने पर अपने प्रियतम प्राणनाथ प्रभु की स्मृति हो
आई। अब उसका यह भाव विलीन हो गया कि इन्द्र मेरा
शत्रु है, मैं रणाङ्गन में उसका वध करने के निमित्त खड़ा हूँ।
अब तो वह सोचने लगा—"अहा! मुझसे बढ़ कर भाग्यशाली
आज कौन होगा जो मैं अपने प्रभु के तेज से इस पाञ्च भौतिक
शरीर को त्याग कर सदाके लिये कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा।
वह बार बार इन्द्र से आग्रह करने लगा और कहने लगा—"हे
शतक्रतु तुम भय मत करो सदेह को स्थान मत दो, मेरे ऊपर
वज्र का प्रहार करो मैं तो भगवान् का भक्त हूँ, जीत तुम्हारी
ही होगी, विजय वधूटी तुम्हारे ही कठ मे जयमाल पहिनावेगी,
विजय श्री तुम्हारा ही वरण करेगी।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ इन्द्र ने कहा—"हे असुरवर्य!
तुम कैसी बातें कह रहे हो। यदि तुम भगवान के सच्चे भक्त हो
तो तुम्हारी पराजय क्यों होगी? भगवद् भक्त तो कभी पराजित
नहीं होते, उनकी तो सदा विजय ही होती है?"

ही चिन्तन करे, मेरी वाणी आप के ही गुणों का गान करे और मेरी
काया आप के ही कैंकर्य सम्बन्धी कार्यों को करे।

इस पर उच्च स्वर से वृत्रासुर कहने लगे—"अरे भैया! यह बात सत्य है कि विष्णु भक्तों की कभी पराजय नहीं होती। मेरा भी पराजय कहाँ हो रही है। मैं तो शाश्वती विजय प्राप्त कर रहा हूँ। सदा के लिए कर्म बन्धनों से मुक्त हो रहा हूँ। जो उन मेरे स्वामी सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि से अनन्य प्रेम करते हैं, जो उन्हें छोडकर और किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करते जो उनके निजजन कहलाते हैं, उन्हें मेरे सर्वसमर्थ नाथ इन तुच्छ ससारी भोगो को नहीं देते। न उन्हें पृथिवी के भोगों में ही फँसाते हैं न पाताल तथा स्वर्गों के सुखोंमे आसक्त करते हैं, उन्हें तो वे मोक्ष रूप सच्चे सुख को प्राप्ति करा देते हैं, जिसमे यह कर्म बन्धन रूप ससार का आवागमन सदा के लिये छूट जाय।"

इन्द्रने पूछा—असुर श्रेष्ठ भगवान् ! अपने भक्तों को ससारी सुख भोग ऐश्वर्य क्या नहीं देते ?"

इस पर वृत्रासुर कहने लगे—"हे सुरपति ! इन शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श सम्बन्धी अनित्य सुखो में रखा ही क्या है ? जहाँ अपने समीप भोगों की विपुलता हुई कि द्वेष बढ जाता है। तुम अपनी ही ओर देखो। यदि तुम इन्द्र न होते स्वर्गीय सुखों मे तुम्हारी अत्यधिक लालसा न होती, तो तुम तपस्वी, यज्ञ कर्ताओं से द्वेष क्यों करते। कोई कितना भी तप करे कोई कितने भी यज्ञ करे, तुम्हारी क्या हानि ? किन्तु तुमतो समझते हो १०० अश्वमेध करके घोर तप करके यह मेरे इन्द्रासन को छीन लेगा। इसीलिये जिसे भी तुम इन शुभ कर्मों मे प्रवृत्त हुआ देखते हो, तो तुम्हारे पेट में पानी हो जाता है। येन केन प्रकारेण तुम उसके तप को भङ्ग करना चाहते हो। किसी के १०० अश्वमेध पूरे नहीं होने देते। महाराज पृथु तो

भगवान् के अवतार थे, उन्हें तुम्हारे इन्द्र पद से क्या प्रयोजन किन्तु तुम्हें शका बनी ही रही। अनेक युक्तियों से विघ्न पाखण्ड बनाकर उनके १०० यज्ञ पूरे होने ही नहीं दिये। ऐश्वर्य को पाकर प्राणिया से द्वेष हो भगवान् अपने भक्तों ऐसे ऐश्वर्य कभी नहीं देते।"

इसपर इन्द्र ने कुछ लज्जित होकर पूछा—"असुरर्षभ! सम्पत्ति और ऐश्वर्य मे यही एक दोष है या और भी कोई ?"

यह सुनकर वृत्रासुर बोला—"हे सहस्राक्ष! जो धन सम्पत्ति हमें विषयों की ओर ले जाकर प्रभु से हटाती है, उसमें नहीं अनेक दोष हैं। कहना चाहिए दोष हा दोष उसमे भरे हैं। धन सम्पत्ति से सदा चित्त में उद्वेग बना रहता है। धन सदा उद्विग्न रहते हैं। उन्हें मानसिक शाति नहीं रहता। आज अमुक वस्तु नहीं है, उसके बिना वह कार्य रुका है, आज अमुक वस्तु बिगड रही है, आज यह नष्ट हो रहा है, उनकी रक्षा कैसे हो, धन की अधिकाधिक वृद्धि कैसे हो, किस प्रकार सब का धन बटूर कर मेरे ही पास आ जाय। किस प्रकार मैं सबसे बड़ा ऐश्वर्यशाली धनी बन जाऊँ, ये ही चिन्तायें सदा सताती रहती हैं। इन्हीं चिन्ताओंसे चित्त चचल बना रहता है। जिसके पास चार पैसे जुट गये उसे सदा खुटका लगा रहता है। किसी विरक्त साधु के पास कोई ५००) रख गया। अब रात्रिभर साधु को चिन्ता बनी रही इनका क्या करें, किस परोपकार के कार्य में लगावें।"

प्रात. उसने अपने गुरु से कहा। गुरु ने आज्ञा दी इन्हें गगाजी में फेंक दो। साधु ने ऐसा ही किया। गङ्गाजी में फेंकते ही उसके सब सकल्प निवृत्त हो गये। सो, हे देवेन्द्र! मानसिक पीड़ा और उद्वेग का कारण ये सासारिक सम्पत्तियाँ ही हैं।

इन्द्र ने कहा—"हे असुर कुल भूषण ! तुम बड़े ज्ञानी मालूम पड़ते हो। भोगों में और भी जो दोष हो उन्हें मुझे बताओ।"

इस पर वृत्रासुर बोले—हे अमराधिप ! भोगों की प्राप्ति में एक सबसे बड़ा दोष यह है, कि भोग सामिग्रियों की प्रचुरता में अभिमान बहुत बढ़ जाता है। ज्ञान ढक जाता है, अज्ञान आकर अन्तःकरण में अड्डा जमा लेते हैं। धन के मद में उन्मत्त हुआ ऐश्वर्यशाली पुरुष समझता है मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं धनी हूँ। मेरे समान कौन है, मैंने अमुक शत्रु को मारा, उसे ललकारा, इसे पछारा, इतने बड़े बड़े यज्ञ किये, इतने भारी भारी दान दिये। मैं इतनों का पालन करता हूँ, इतने व्यक्ति मेरे आश्रय में रहकर आजीविका प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार वह अनेक मिथ्याभिमान करके भगवान् से दूर हटता जाता है।"

इन्द्र ने कहा—"महाभाग ! अभिमान से पतन कैसे होते हैं ?"

वृत्र ने कहा—"अजी, यह तो सीधी सी बात है। अभिमान होता है अज्ञान से। जहाँ अभिमान हुआ कि कलह का सूत्रपात हो जाता है। दो अभिमानी जुट जायँगे वहीं गाली गलोज, मार पीट, लड़ाई झगड़े आरंभ हो जायँगे। एक दूसरे की निन्दा करेंगे परस्पर लड़ेंगे प्रहार करेंगे कटुवचन कहेंगे। कलह नरक भार्या है, वह नरक के मार्ग को प्रशस्त बनाती है। अब जिन्हें नरक में भय हो वे अभिमान और कलह से सदा दूर ही रहें।"

यह सुनकर देवेन्द्र ने कहा—"इतने ही या और भी कुछ दोष हैं इन संसारिक सम्पत्तियों में।"

इसपर वृत्रासुर ने कहा—"अब मैं कहाँ तक तुम्हें गिनाऊँ। देखो, जितने भी बुरे व्यसन होते हैं, इस धन के ही कारण होते

हैं। धनी लोग ही धन के मद में भरकर बड़े बड़े पाप करत जुआ खेलते हैं, व्यभिचार करते हैं, सुरापान के व्यसनी बन ज हैं, मादक वस्तुओं का सेवन करने लगते हैं। धन के निय नि मानसिक श्रम करते रहते हैं, उसी की रात्रि दिन चिंता कर रहते हैं सो हे देवेन्द्र! इस इतने अनर्थ के मूल इन्द्र पदका सुर उपभोग करो। मैं तो सम्मुख समर मे लड़कर वीर गति पाऊँगा मैं तो अपने श्यामसुंदर श्रीहरि को रिझाऊँगा। उन्हीं क चरण शरण जाऊँगा। वे ही मेरे रक्षक हैं, वे ही प्रतिपालक हैं। वे ही मेर माता, पिता, सुहृद्, सम्बन्धी, बन्धु, बान्धव, स्वामी और सर्वस्व हैं। मैं उन्हीं का कुछ काल ध्यान करूँगा। अभी तुम मुझसे युद्ध मत करना जब तक मैं अपने प्राण नाथ श्रीहरि का ध्यान करूँ, तब तक तुम मुझपर प्रहार मत करना। मेरे ध्यान मे विघ्न मत डालना। तू इस बात म भी सदेह मत करना कि भगवत् भक्त का युद्ध के निमित्त किया हुआ प्रयास व्यर्थ क्यों हो गया, उसको विजय न होकर पराजय क्यों हुई। बात यह है कि हमारे स्वामी अपने भक्तों की सदा बडी तत्परता से देख रेख रखते हैं। वे उन्हे कभी परमार्थ से पतित नहीं होने देते। जिसमे उनका हित होता है, उसे वे हठ पूर्वक करते हैं। रोगी यदि शुभचिन्तक वैद्य से कोई स्वादिष्ट वस्तु माँगता है और वैद्य उससे उसका अहित समझता है, तो लाख बार मागने पर भी उसे नहीं देता। इसी प्रकार हमार हरि जब देखते हैं, भक्त विषयों में फसकर मुझे भूल जायगा, तो उसके धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी प्रयास का सर्वदा नाश कर देते हैं। यह उनकी अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा ही है। ऐसी कृपा उन्हीं अकिञ्चन भक्तों को प्राप्त हो सकती है, जो एकमात्र उन्हीं को अपना सर्वस्व समझकर अनन्य भावसे उन्हीं के चरणों की निरन्तर उपासना में

लगे रहते हैं। जिन्हों ने अपने समस्त कर्म उन्हीं के निमित्त अर्पण कर दिये हैं। ऐसे ही बड़भागी भगवान् के इस अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। अन्य पुरुषों के लिये यह अनुग्रह अत्यंत ही दुर्लभ है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! देवताओं और असुरों की सुसज्जित दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा हुआ वृत्रासुर भगवान के ध्यान में तन्मय हो गया। भगवान ने जब देखा मेरा भक्त मुझे स्मरण कर रहा है, तो वे तुरन्त गरुड़ पर सवार होकर वृत्रासुर के सम्मुख उपस्थित हुए। आकाश मंडल में अपने स्वामी श्रीहरि के दर्शन करके वृत्रासुर के रोम रोम खिल उठे। वह गद्गद् कंठ से भगवान की स्तुति करने लगा। उस समय उसके दोनों नेत्रों से श्रावण भादों की वर्षा के समान झर झर अश्रु बिन्दु झर रहे थे। कंठ गद्गद हो रहा था। सम्पूर्ण शरीर के रोम खड़े हुए थे। हाथ जोड़े हुए वह कह रहा था—हे हरे! मैं मरने से डरता नहीं। चाहे असख्यों बार मरता और जन्मता रहूँ, किन्तु मेरी एक ही साध है, एक ही आन्तरिक अभिलाषा है, कि मरकर भी मैं आपके उन दासों के दासों का दास बनूं जिनका आपको छोड़कर अन्य कोई गति नहीं। जिन्हें आपके अरुण चरणों का ही एकमात्र आश्रय है। जो आपके कैंकर्य में सदा लगे रहते हैं। ऐसे भक्तों के सेवकों का भी सेवक बनने में मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

हे मेरे जीवन सर्वस्व! हे मेरे प्राणों के स्वामी! हे मेरे जीवनाधार! मेरा मन मधुप सदा आपके मधुमय गुणगणों का ही स्मरण चिंतन करता रहे। मेरी यह वाणी सदा आपके ही त्रैलोक्यमोहक गुणों के गान में ही संलग्न रहे। मेरे शरीर से आपके ही सेवा सम्बन्धी कार्य हों। स्नान करूँ तो इस भावना

स कि इस शरीर से भगवत् सेवा करनी है। पैरों से, चलूँ

इसीलिये कि आपकी अर्चा की सामग्री लानी है, हाथों से जो भी

आदान प्रदान करना हो आपकी सेवा के सम्बन्ध से ही किया जाय। रसोई अपने खाने के निमित्त न बनाकर आपके भोग के लिये ही बनाऊँ, सुन्दर से सुन्दर सामग्रियों को शरीर पुष्ट करने के निमित्त नहीं आपकी सेवा के निमित्त जुटाऊँ। हाथ से आपके पार्षदों को मलूँ आपके मन्दिर में झाड़ू दूँ। आपके लिये पत्र, पुष्प, फल तथा पूजा की अन्य सामग्री जुटाऊँ। आपको आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर सुन्दर नीर से न्हिलाऊँ। चदन अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि चढाऊँ। भोग लगाऊँ, प्रसाद पाऊँ, शयन कराऊँ। साराश शरीर से जो भी कार्य करूँ, आपके ही निमित्त करूँ आपको विस्मरण करके एक क्षण भी न रहूँ। आपके कैंकर्य में ही जीवन को बिताऊँ। हे मेरे जीवनाधार ! ऐसा ही जीवन मुझे दो। ऐसी ही भक्ति मुझे चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वृत्रासुर इस प्रकार भगवान् की विनय करते करते तन्मय हो गया। उसके ओठ हिल रहे थे, गद्गद् कठ से वह और भी कुछ कह रहा था। उसे भी आप सचेष्ट होकर सुनिये।"

छप्पय

करि हरि दरसन वृत्र विनयतेँ बोल्यो बानी।
दीन्हें दरसन देव जानि सेवक अज्ञानी॥
तव दासनि को दास दयानिधि पुनि पुनि होऊँ।
चिन्तन चित नित करे गुणनि को तव हित रोऊँ॥
करें कार्य कैंकर्य कर, गुन गावे बानी सतत।
जो कछु होवे देह तें, सो तुम्हरी सेवा निमित॥

वृत्र स्तुति

(४०८)

न नाकपृष्ठ न च पारमेष्ठ्यम्
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २५ श्लो०

छप्पय

नहीं चाह है स्वर्ग ब्रह्म पद हू नहिँ चाहूँ ।
भूमि रसातल राज न चाहूँ ऋषि बनि जाऊँ ॥
नहीं सिद्धि सब पाइ सिद्ध बनि जगत लुभाऊँ ।
वाञ्छा चित महँ नहीं मुक्ति की पदवी पाऊँ ॥
है मेरे मन लालसा, चरन कमल चित महँ धरूँ ।
सेवक बनि के सदाई, नित सेवा तुम्हरी करूँ ॥

ससार के जितने सुख हैं वे सब प्रियतम के प्रेम के ऊपर उनके कृपा कटाक्ष के ऊपर वारे जा सकते हैं, हमें प्यारे का प्रेम

---

*वृत्रासुर भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे प्रभो ! मैं तो केवल आप को चाहता हूं । आप को छोड़कर मुझे स्वर्ग, ब्रह्मपद सार्वभौम साम्राज्य, (रसातल का अधिपत्य) योगसिद्धि अथवा मोक्ष आदि किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है ।

प्राप्त हो इसके अतिरिक्त हमे और कुछ न चाहिए। शरीर के सुख दुख भाग्य के अनुसार आते हैं जाते हैं वे अनित्य हैं, विस्मरणशील हैं। स्मरणीय तो स्नेही का अनुपम स्नेह है। इष्ट की कृपा भरी दृष्टि हमारे ऊपर पड जाय, तो यह जीवन सफल हो जाय, सभी शुष्कता धुलकर स्निग्धताका जीवन मे सचार हो जाय।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अनन्य भगवद्भक्त वृत्र अपने इष्ट श्रीहरि की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे मर्वसौभाग्यनिधे! सभी श्रेय, सभी कल्याण, सभी सौभाग्य के आप जनक हैं। आपसे ही समस्त सौभाग्यो का प्राकट्य हुआ है। इस ससार मे प्राणी इन्द्रियों के अधीन है। शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श ये ही ससार में कान, आँख, जिह्वा, नाक और त्वचा इन पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। इन इन्द्रियों को ये विषय नहीं मिलते या कम मात्रा में मिलते हैं तभी ससारी जाव अपने को दुखी समझते हैं। इन्द्रियों के अनुकूल विषय मिलने पर क्षण भर को प्राणी अपने को सुखी समझने लगते हैं। किन्तु इन्द्रियों की विषय लालसा ऐसी अक्षय है, कि कितने भी विषय का उपभोग करो इनकी तृप्ति ही नहीं होती। कितनी भी विषय सामग्रियाँ क्यों न मिल जायँ, कितनी भी ससारी भोगों की प्रचुरता क्यों न हो, कोई सन्तुष्ट दिखाई नहीं देता। फिर भी तारतम्य से लोग मिथ्या सुखी माने बैठे हैं। जिसे भर पेट अन्न नहीं मिलता, उससे वह सुखी है, जिसे रूखा सूखा अन्न भर पेट मिल जाता है, उससे वह सुखी है, जिसे सुन्दर स्वादिष्ट दूध घृत के भोजन के साथ स्त्री बच्चे, फूल माला, वस्त्र आभूषण कुछ मात्रा में मिलते हैं। उससे वह धनिक सुखी समझे जाते हैं जिनपर हजार रुपये हों, हजारपति से लखपति,

लखपति से करोडपति और करोडपति से पद्मपति श्रेष्ठ मा
जाता है। इससे माडलीक राजा और उससे भी श्रेष्ठ समस्त
भूमि का चक्रवर्ती सम्राट् समझा जाता है। यदि कोई मुझे क
कि हम तुम्हें समस्त भूमडल का एक छत्र सम्राट् बनाय देते हैं,
तुम भगवान् को छोड दो, तो हे सर्वेश्वर! ऐसे सम्राट पद की
ओर में सिर उठाकर भी न देखूँगा। मुझे तो हे मेरे जीवनधन!
आप ही चाहिए। आपकी कृपा का ही में इच्छुक हूँ।

यदि कोई कहे पाताल मे बडे बड़े सुख हैं वहाँ मणियों का
प्रकाश जगमगाता रहता है, वहाँ की समृद्धि स्वर्ग के सदृश है,
वहाँ भोगों की प्रचुरता है, वहाँ जरा मृत्यु का भी भय नहीं,
दिव्य ऐश्वर्य का सर्वदा उपभोग करते रहते हैं। उस पाताललोक
का समस्त ऐश्वर्य हम तुम्हे दिये देते हैं, (उसका सर्वाधिकारी
शासक बनाये देते हैं) तुम भगवान् को भूल जाओ उनकी स्तुति
मत करो, तो में ऐसे पाताल के आधिपत्य पर लात मार दूँगा,
उसे बायें पैर से ठुकरा दूँगा। हे मेरे एक मात्र शरण्य! मैं तुम्हें
छोडकर ऐश्वर्य नहीं चाहता सुख नहीं चाहता, भोगों की वाञ्छा
नहीं, मुझे तो तुम चाहिय। हे जगदाधार! तुम्हारे बिना मैं
सात भूविवरों का स्वामित्व लेकर क्या करूँगा।

कोई कहे तुम्हें हम स्वर्ग के सिंहासन पर सदा के लिये
अभिषिक्त किये देते हैं। अस्थाई इन्द्र पद को स्थाई बनाकर तुम्हें
स्वर्ग का सम्राट् बनाये देते हैं। तुम तीनों लोकों के ऐश्वर्य का
यथेष्ट भोगो, किन्तु वासुदेव से सम्बन्ध मत रखो। आनन्दकन्द
नन्दनन्दन के चरणारविन्दों का चिन्तन मत करो, तो हे आनन्दै
कनिलय! हे सुखार्णव! मैं उस इन्द्र पद की ओर आँख उठाकर
भी न देखूँगा। मैं उस स्वर्ग के आधिपत्य को रौरव नरक के
समान हलाहल विषके समान, विषधर सर्प के समान, (प्रज्वलित

अग्नि के समान, मारक अस्त्र के समान) असाध्यरोग के समान, तीक्ष्ण शूला के समान तथा ब्रह्महत्या के समान अग्राह्य और अस्पर्श समझूँगा। मुझे तो हे मेरी जार्ण शीर्ण जीवन नौका के एक मात्र कुशल केवट! तुम्हारा ही आश्रय है। तुमही मेरी डगमगाती तरणी को उस पार लगाने वाले हो। तुम्हारे चरणों को छोड कर मैं और कोई सुख नहीं चाहता किसी समृद्धि की आकांक्षा नहीं।

कोई कहे तुम ब्रह्मपद लेलो। इन १४ भुवनो के स्वामी बन जाओ, समस्त चराचर जीवों के स्वामी हंसवाहन ब्रह्मा हो जाओ, किन्तु भगवान् को भूल जाओ। तो हे मेरे प्रभो! मैं उस ब्रह्मपद को अभिशाप समझूँगा। अपने पापों का मूर्तिमान् स्वरूप मान कर उसकी अवहेलना कर दूँगा। दीनबन्धो! मुझे ब्रह्मपद से क्या लेना है, स्वामीपनमें रखा ही क्या है, और अभिमान को बिना बात मोल लेना है। मैं तो सेवक ही अच्छा हूँ, तुम्हारे चरणों की सेवा मिले इस से बढ कर मैं ब्रह्म पद को नहीं मानता। असंख्यों ब्रह्मा आपकी भाँति भाँति से स्तुति करते हैं। आपके अरुण चरणों में अपने असंख्यों मणि मुक्ताओ से युक्त किरीट वाले मस्तकों को रगडते हैं, मुझे तो चरणों की रज चाहिये। वही मेरे लिये जीवनमूरि है।

कोई कहे तुम आठों सिद्धि नवों निद्धियों को लेलो। ससार में सबसे श्रेष्ठ सिद्ध बन जाओ। सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने की भी सामर्थ्य धारण कर लो, किन्तु कृष्ण तथा कृष्ण कीर्तन को छोड़ दो तो हे भक्त वत्सल! मैं उस सिद्धि को दूर से ही दण्डवत् कर दूँगा। सिद्धि लेकर मुझे क्या करना है, मुझे तो समस्त सिद्धियों के स्वामी आप की चाह है।

आप कहेंगे अच्छा तू न स्वर्ग चाहता है, न सार्वभौम साम्राज्य, न रसातल का आधिपत्य चाहता है न ब्रह्म पद, तो क्या मोक्ष चाहता है। मेरे पास सब से बड़ी वस्तु है मोक्ष। मोक्ष हो गई, ससार बन्धन से छूट गये। "ना, प्रभो! मैं उस राड मोक्ष को भी लेकर क्या करूँगा, जिस मे आप की सेवा का सुअवसर प्राप्त न हो। मेरे जन्म हों, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। चिन्ता इसी बात की है, कि आप के चरणों की विस्मृति न हो। हृदय मे आपकी मनमोहनी (छटा सदा बसी रहे मनमे आपकी मनमोहनी) मूरति गढ जाय, मुख से निरन्तर आपके जगन्मङ्गल सुमधुर नामो का गान होता रहे। कर सदा आपके कैंकर्य सम्बन्धी कार्यों मे ही लगे रहें, रसना सदा आपके प्रसादी नैवेद्य की ही लोलुप बनी रहे। उदर आपके प्रसाद भोग से ही भरे। मस्तक पर सदा आप का निर्माल्य आपकी प्रसादी मालायें ही शोभा दें। घ्राण सदा आपके चरणों मे चढी तुलसी की गंध को ही सूँघती रहे। हे विश्वम्भर! ऐसा ही वरदान आप मुझे दें। आप मुझे अपनी शरण मे लेलें। मैं आपके तेजोमय वज्र से मर कर इस आसुरी शरीर को त्याग कर सदा के लिये आपकी सेवा मे आना चाहता हूँ आप मुझे अपनावें। मैं विरही बनकर सदा आपके लिये रोता रहूँ मेरे जीवन में विरह हो, आप की यादमे तडपूँ रोऊँ, पागल हो जाऊँ।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाभाग वृत्रासुर इस प्रकार भगवान् की स्तुति करते २ रोने लगे। वे आत्म विस्मृत से हो गये।

छप्पय

हरितें हेतु हटाइ विषय जग माँहिं फँसावें ।
हरि बिनु जगके भोग मोह तनिकहु नहिं भावें ॥
मूरति मन महँ मधुर मचलि माधव की जावे ।
रसना निशि दिन सुखद गीत गोविंद के गावे ॥
दया सिंधु द्वारे खड़ो, दरस दास कूँ दीजियो ।
कलपूँ कबतें कृपानिधि, कृष्ण कृपा अब कीजियो ॥

हे हरि ! मेरा मन किस प्रकार आपकी बाँकी झाँकी करे ?

(४०६)

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ *

(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

कैसे चाहूँ तुम्हें जगत उपमा कहँ पाऊँ।
तोऊ हियकी विरह चाह सर्वेश सुनाऊँ॥
खग शावक बिनु पंख मातु कूँ जैसे चाहें।
भूखे बछरा मातु दूध हित ज्यों डकराहें॥
भये प्रवासी प्राण पति, नित्य निहारे नारि ज्यों।
जीवनधन ! उत्सुक बनो, झाँकी चाहें नाथ त्यों॥

जिस हृदय में मिलन की चाह नहीं, उत्सुकता नहीं, प्रतीक्षा नहीं, सिहरन नहीं, तड़पन नहीं, अभिलाषा नहीं, आकाँक्षा नहीं,

* वृत्रासुर भगवान् की स्तुति कर रहे हैं—"हे अरविन्दाक्ष ! जैसे बिना पंख के पक्षियों के बच्चे अपनी माता की प्रतीक्षा करते हैं। जैसे दूध ही पीने वाले भूखे बछड़े अपनी माँ के स्तन पान करने को

सयोग की समुत्सुकता नहीं, प्रियतम को गले लगाने की साध नहीं, नयनों से नयन मिलाकर दरश पिपासा को शात करने की कामना नहीं। ऐसा जीवन भी क्या जीवन कहा जा सकता है। वृक्ष किसकी आशा मे खडे रहवे हैं, किसके स्वागत के लिये शाखा रूपी हाथों को फैलाये प्रतीक्षा करते रहते हैं। उत्तर मिलेगा ऋतुराज वसन्त की प्रतीक्षा मे। भ्रमर अत्यन्त ही तडके भोर में क्यों परों को फैलाये इधर से उधर फुदकते रहते हैं। वे अरविन्दैकबन्धु भगवान् भुवन भास्कर की प्रतीक्षा मे तडफते रहते हैं। कब दिनकर उदित होकर दिन करें, कब कमल खिलें कब हम उनकी माधुरी का पान करें। यह चकवाकी अत्यत विह्वल हुई क्यों अश्रु बहाती रहती है, नीची नारि किये किसकी प्रतीक्षा मे यह खडी खडी बिलबिला रही है, क्यों यह भोर में ऐसी समुत्सुका बनी हुई है। यह दिवस की प्रतीक्षा कर रही है, कब निशा का अन्त हो, कब अपने प्रियतम से हृदय मिलाकर अग से अग सटाकर चोंच से चोच जोडकर और उनके परों मे अपने पह्लो को भिडाकर, अपने को उनमें एक कर दूँ कब उनसे लिपट जाऊँ, इसी प्रतीक्षा मे पल पल को युग युग के समान बिताती हुई नदी के उस पार से प्रियतम की मन भावनी बोली सुनने को उत्सुक सी हो रही है।

यह पपीहा क्यों पिउ पिउ की रटन लगा रहा है, यह किसे बुला रहा है, यह किसक गुन गा रहा है, पानी में रह कर भी

प्रतीक्षा करते हैं। तथा जैसे विरह व्यथिता पतिपरायणा प्रियतमा परदेश गये अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में प्रतिपल अधीर बनी रहती है उसी प्रकार हे कमलदललोचन! मेरा भी मन आपकी उसी उत्सुकता से झाँकी करना चाहता है।

यह प्यासा क्यों बना हुआ है। हाय ! इस ससार की रचना ब्रह्माजी ने कैसी विचित्र की है। कितने अगणित पुरुष चौराहे से आते जाते हैं। एक से एक सुन्दर, एक से एक लावण्ययुक्त, एक से एक सजे बजे, श्री शोभा सम्पन्न किन्तु पतिव्रता उनकी ओर फूटी आँखों से भी नहीं देखती उसके लिये उनका अस्तित्व ही नहीं। जब म्लान मुख मलिन वसनधारी अपने पति परमेश्वर को देखती है, तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं, प्रसन्नता का सीमा नहीं। वह प्रेम मे बेसुधि हो जाती है। हृदय में गुदगुदी होने लगती है। कितना पानी भरा है, परम पवित्र-आधि व्याधि तथा ससारी कर्म वासनाओं को मिटा देने वाला निर्मल गङ्गाजी का जल भरा है, किन्तु इस पपीहे को तो एक ही रट है, वह तो स्वाति की बूँद के लिय ही समुत्सुक है, उसी की प्रतीक्षा में आकाश की ओर टकटकी लगाये खडा है, या तो उसी बूँद को पावेगा या मर जायगा। जीवन में कैसी उत्सुकता है, कैसी लालसा है। जब पशु पक्षियों मे ऐसी उत्कंठा है तो जिस मनुष्य में अपने प्यारे के लिय आकाँक्षा नहीं, मिलने के निमित्त विकलता तड़फन नहीं वह तो पशु पक्षी, कीट पतग और वृक्षों से भी गया बीता है। उसे तो मनुष्य कहना पाप है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रेम में विह्वल हुआ वृत्र भगवान् से विरही जैसी चाह माँगता है। अपने प्यारे के लिय पल पल भारी हो, चित्तकी वृत्ति उसी मे लगी हो ऐसे जीवन की याचना करता है। वह गद्गद् कंठ से कहने लगा—"हे मेरे सर्वस्व ! मैं तुम्हारा स्मरण समुत्सुकता के साथ करूँ। जैसे मातृ पक्षी अण्डा देकर उन्हें सेती हैं कालान्तर में अडे फोड़ कर छोटे छोटे बच्चे निकल आते हैं, वे सब भाँति असहाय होते हैं। स्वय चल फिर नहीं सकते स्वय जीवन सम्बन्धी आवश्यक

वाओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं। माता ने जहाँ बिठा दिया बैठ गये, जहाँ लिटा दिया लेट गये, चोंच में चोंच भिड़ाकर जो खिला दिया खा लिया, न बल न साहस, हो भी कैसे वे तो अभी सर्वथा मांस के पिंड ही बने हुये हैं। इन्हें छोड़कर माँ दाना लेने के लिये चली जाती है, माँ को आने में कुछ देर हुई, तो जिस प्रकार वे पक्षहीन बच्चे तड़फड़ाते रहते हैं, बड़ी उत्कंठा, बड़ी उत्सुकता से जिस प्रकार अपनी जननी का स्मरण करते हैं, हे अरविन्दाक्ष ! उसी प्रकार मैं भी आपका चिंतन स्मरण करूँ। मैं भी तुम्हारे बिना व्याकुल हो जाऊँ। मैं भी तुम्हारे चिरकालीन वियोग को न सह सकूँ।

अथवा जैसे हाल की व्याई गौ है, उसका एक छोटा सा सुन्दर मुनमुना सा बछरा है। वह घास नहीं खाता, भूसा नहीं खाता, अन्न अन्नादिक भी नहीं खा सकता। केवल अपनी माँ के दूध के ही आधार पर रहता है। स्वामी ने उसे माँ से दूर खूँटे में कस कर बाँध दिया है। अब उसे भूख लगी है। वह माँ से लिपटना चाहता है, वह अपने मुँह की हुड्ड से मातृस्तनों के मधुर दूध को पान करके अपनी क्षुधा को शांत करना चाहता है। बार बार इधर से उधर फुदुकता है, रस्सी को तोड़ता है, खूँटे के चक्कर लगाता है, शरीर को हिलाता है, भाँति २ की चेष्टाय करता है, उस समय अपनी माता से मिलने की जैसी उसकी उत्कण्ठा होती है, हे मेरे प्राणेश ! वैसी ही उत्सुकता मुझे आप से मिलने की हो। मैं उसी प्रकार आप के चरणों का चिंतन करता हुआ आपके लिये व्याकुल बना रहूँ।

अथवा कोई पतिप्राणा पति पत्नी है, उसका पति परदेश चला गया है। प्रियतमा से कह गया है—"प्रिये ! मैं अमुक दिन आ जाऊँगा।" अब उसके सब मङ्गल नष्ट हो गये हैं, वह मल

मलकर स्नान नहीं करती, सोलह शृङ्गार करके शरीर को सजाती नहीं, मेला उत्सवों में जाती नहीं, मधुर स्वर से वीणा लेकर गाती नहीं, सखी सहेलियों के सहित सर मे क्रीडा करती हुई नहाती नहीं। न वेणी बाँधती है, न केशपाशो मे पुष्प लगाती है, यह सब काम तो पति की प्रसन्नता के लिये—उन्हे सुख पहुँचाने के लिये—करती थी। आज उसके प्रियतम तो प्रवासी बन गये हैं। अब उसे उतना अवकाश कहाँ, कि इन कार्यों को करे। अब तो उसे बैठते, चलते फिरते, खाते पीते एक ही धुन है, कब मेरे प्राणाधार आवेंगे, कब मेरे तन की तपन बुझावेंगे, कब वे मुझे स्नेह भरित हृदय से उठाकर गले लगावेंगे। कब वह घडी आवेगी, कब वह मुहूर्त होगा, जब उनकी चरण धूलि को मस्तक पर लगाऊँगी, कब उनकी झाँकी करके नेत्रों से नेह का नीर बहाऊँगी, कब उन्हें हृदय से लगाकर वियोग जन्य दुख मिटाऊँगी।

अब वह किसी से बातें भी करती है, तो उन्हीं के सम्बन्ध की। सोचता है, तो उन्हीं की घटनाओं को। शका करती है, तो उन्ही को लेकर। प्रथम तो उसे प्रियतम के वियोग मे नींद आती ही नहीं, दीर्घ उच्छ्वास छोडती हुई पति की शैया का आलिंगन किये तडफड़ाती रहती है। कदाचित नींद आ भी जाय तो स्वप्न में उन्हीं को देखती है। उन्हीं को रो रो कर अपनी विरह व्यथा सुनाती है, जब निशावसानमें नींद खुलने लगती है और उसे भान होने लगता है, कि यह यथार्थ मिलन नहीं स्वप्न था। तब भी वह आँखें बद किये हुये पडी रहती है कि फिर नींद आ जाय, एक बार पुन स्वप्न में ही सही अपने हृदयधन के दर्शन हो जाँय, किन्तु फिर नींद कहाँ। वह तो उचट गई, उत्सुकता बढाकर भाग गई, प्रियकी धधकती हुई विरहाग्नि को उद्दीप्त करके खिसक गई।

पतिव्रता फिर रोती है। बार बार ऊँगलियों की पोटो पर दिन गिनती है। एक एक करके वही दिन आ गया, जिस दिन उसके हृदय सर्वस्व आने को कह गये थे।

आज उसकी उत्सुकता का ठिकाना नहीं। आज चिरकाल के पश्चात् उसने अपनी शृङ्गारदानी को झाड पोंछ कर यथा स्थान पर रखा है। घर को झाड़ बुहार कर स्वच्छ बनाया है। सिन्दूर की डिब्बी ठीक की, सुरमादानी की धूलि झाडी है। पानों को उलट पलट कर गले हुओं को काटा है। कथा तेल फुलेल इत्र पान भोजन सभी की चिन्ता की है। आज उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं। उत्सुकता सीमा का उल्लघन कर गई है। क्षण क्षण में घर के द्वार तक जाती है। कोठे पर चढती है दूर तक दृष्टि दौड़ाती है, फिर घर में आ जाती है। तनिक खड़खडा हट हुई कि हृदय बाँसों उछलने लगता है दौडकर खिड़की खोलती है। अरे यह तो कुत्ता है कुत्ते ने द्वार खटखटाया है। पेड़ पर कौआ बैठे हैं अहा वे अवश्य आते होंगे। कौआ राजा उड़ जा यदि मेरे जीवन सर्वस्व आते हों तो। वह इक टक भाव से खड़ी रहती है। फिर सोचती है दूर से भूखे आवेंगे लाओ थोड़ा साक अमनिया कर लूँ। आटा मल लूँ आते ही रसोई बनाऊँगी। यह सोचकर भीतर जाती है" यह सब करने लगती है। फिर सोचती है--"यदि न आये तो इस विचार के उठते ही उसके हृदय में एक धका सा लगता है, मानसिक वेदना होने लगती है, फिर पत्तों की खड़खड़ाहट हुई। हृदय में आशा का सञ्चार हुआ बाहर दौड़ी गई देखा कोई सखी है। उसी से पूछती है—"आज मेरे प्राणाधार आने वाले थे वे अभी तक न जाने क्यों नहीं आये। तू शकुन देखना जानती है क्या? शकुनौटी डाल, कि वे कब आवेंगे, आज आवेंगे या नहीं। मुझसे कोई

अपराध तो नहीं बन गया।" इस प्रकार कहते २ रोने लगती है। उसे क्षण-क्षण पल-पल एक एक निमेष भारी हो जाता है। वह व्याकुल हुई, जिस प्रकार पति दर्शन की लालसा से तन्मय हो जाती है। हे मेरे प्रियतम, उसी भाँति मैं तुम्हारे लिये व्याकुल होऊँ। तुम्हारी स्मृति में अधीर बना रहूँ। जिस प्रकार विरह व्यथित वह पतिप्राणा कामिनी अपने प्रवासी प्रियतम की बाट जोहती रहती है, उसी प्रकार मेरा मन भी आपकी बाँकी झाँकी के लिये व्याकुल बना रहे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर इस प्रकार विष्णु से विरह की वाञ्छा करता हुआ फूट फूटकर वहीं रण भूमि में रुदन करने लगा।"

छप्पय

प्रिय आवन के दिवस प्रिया ज्यों व्याकुल होवे।
आशा तें है मुदित निराशा तें पुनि रोवे॥
पुनि पुनि देखे द्वार अटा चढ़ि पीव निहारे।
कबहुँ निहारे शकुन कबहुँ कछु वस्तु सम्हारे॥
छिन छिन पल पल निमिषमहँ, ज्यों प्रियतम सुमिरन करे।
त्यों हरि तुम्हरे नेहमें, नीरस हिय मेरो भरे॥

———

मेरी-साध

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्,
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे—
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ११ अ० २७ श्लो०

छप्पय

धन जन वैभव स्वर्ग ब्रह्मपद मुक्ति न चाहूँ ।
भ्रमत जगत महँ जन्म ग्रहण करि यदि पुनि आऊँ ॥
तो मेरी है साध नाथ ! तुम पूरी कीजौ ।
विषयनि को नहिं संग होय हरि यह वर दीजौ ॥
सुत कलत्र धन धाम महँ, जिनको मन आसक्त अति ।
कबहूँ मोकूँ भूलि प्रभु, तिनको दैयो सङ्ग मति ॥

विषय भोगों की वस्तुएँ आज हैं कल नहीं हैं। इन में सुख नहीं शाँति नहीं। इस शरीर का ढाँचा ऐसा बना है कि जिस

---

*भगवान् की स्तुति करते हुए वृत्रासुर कह रहे हैं—"हे नाथ ! प्रारब्ध वश यदि संसार चक्र में मुझे घूमना पड़े, तो मुझे जन्म जन्मों में आप उत्तम श्लोक प्रभु में प्रीति करने वाले भगवद् भक्तों से ही मेरी प्रीति हुआ करे, किन्तु जो पुत्र, कलत्र और गृह आदि में आपकी

स्थित मे रहता है वैसे ही रहने का इसे अभ्यास हो जाता है। एक राजा ने एक व्यक्ति को धूप में ककड़ों पर गहरी नींद में सोते हुए देखा। उसने अपने मत्री से पूछा—"इस व्यक्ति को ऐसी गरमी में कड्डों पर ऐसी गहरी नींद कैसे आई? हमें तो गुदगुदे गद्दों पर प्रयत्न करने पर ऐसी नींद नहीं आती।" मत्री ने सरलता से कहा—"प्रभो! यह तो अभ्यास और स्थिति के ऊपर निर्भर है। यदि इसे भी सुख में रखा जाय और शरीर को सुख मे रहने का अभ्यास हो जाय, तो इसे भी फिर यहाँ नींद न आवेगी।" राजा ने कहा—"इसे हमें प्रत्यक्ष करके दिखाओ।"

राजा की आज्ञा पालन की गई। उस व्यक्ति को बड़े सम्मान से राजधानी मे ले जाया गया। कोई छोटा मोटा काम उसे सौंप दिया गया और जितना सुख बड़े लोगों को दिया जाता है उतना दिया जाने लगा। अब तो वह सुख का आदी हो गया। गुदगुदे गद्दों पर सोता, सुदर स्वादिष्ट मधुर भोजन करता, सुख कर सवारियों पर घूमता। एक दिन मत्री ने उसकी रजाई का रुई मे जान बूझकर २४ बिनौले छुडवा दिये। गद्दे मे भी २४ छोड दिये। जब वह रात्रि मे लेटा तो बिनौले शरीर में चुभने लगे। उसे राजा के समीप ही लिटाया सकोच वश बोला तो नहीं, किन्तु रात्रि भर जागकर करवट बदलता रहा।" प्रात मत्री ने बड़े सम्मान से पूछा—"आपकी आँखें लाल क्यों हैं? मुख भी म्लान हो रहा है क्या कारण है?"

उसने दुखित होकर कहा—"क्या बताऊँ मत्रीजी! आज

मोहनी माया से मोहित होकर, अत्यन्त आसक्त चित्त वाले बने हुए हैं, ऐसे ससारी मनुष्यों में मेरी प्रीति न हो।

नया रजाई आई गद्दा भी नया था, न जाने उसमें क्या वस्तु थी जो रात्रि भर मेरे अङ्गों में चुभती रही। क्षण भर को भी नींद नहीं आई।"

तब मन्त्री ने राजा से कहा—"देखिये, अन्नदाता! कहाँ तो इसे ककड़ों पर धूप में गहरी नींद आ जाती थी कहाँ तो २४ बिनौलों के कारण ही इसे नींद नहीं आई। महाराज! यह प्राणी सुविधाओं और परिस्थितियों का दास है। जैसी स्थिति में रहना होता है वैसा ही अभ्यास हो जाता है।

यह तो सुख की बात रही। हमने ऐसे लोगों को प्रत्यक्ष देखा है, जो पहिले सुन्दर से सुन्दर मिठाई को देखकर नाक भौं सिकोड़ते थे। मीठे को देखकर चिढ़ जाते थे, वे ही जब उनका अभाव हो गया, तो एक गुड़ डली के लिये तरसने लगे। पहिले संगमरमर के फरसों पर नंगे पैरों चलने से जिन्हें सर्दी हो जाती थी, उन्हें माघ पूस के जाड़ों में नंगे पैर ओस से भीगी गङ्गाजी की ठढ़ी बालू में पड़े रहने में भी कुछ नहीं होता। इससे यही सिद्ध हुआ कि इन विषय भोगों में कोई विशेष सुख नहीं। सुख का सम्बन्ध तो मन से है। मन सुखी तो सब सुखी मन दुखी तो सब दुखी। मन को भली भाँति मालिन्य मेटने के लिये मनुष्यों ने साधु संग को सर्वश्रेष्ठ साधन बताया है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर ने आँसू पोंछे और फिर स्तुति करने लगा। उसने कहा—"हे प्रभो! अब आप से मैं क्या माँगू? आप तो वरदानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप वाँछाकल्पतरु हैं, आपके सम्मुख होते ही सभी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं। नाथ! मैं मुक्ति नहीं चाहता, मैं यह भी प्रार्थना नहीं करता कि मेरा कर्म बन्धन क्षय हो जाय, मेरा आवागमन सदा के लिये मिट जाय। प्रारब्ध का भोग भले ही मुझे एक

जन्म मे नहीं लाखों जन्मों मे भोगना पड़े। मुझे पृथिवी म, रसा तल मे स्वर्ग मे चाहें जहाँ भी—जिस योनि मे भी—रहना पड़ वहाँ रहूँ, किन्तु एक भीख मुझे दे भवभयहारी! इसी समय दे दो। एक मेरी इच्छा को तुरन्त पूरी कर दो। मैं जहाँ भी रहूँ आपके भक्तों के सग ही रहूँ। अहा! आपके जो भक्त निरतर आपके त्रैलोक्य पावन नामों का अव्यग्र भाव से स्मरण करते रहते हैं। सर्वदा पवित्र कीर्ति वाले आपके गुणों का गान करते रहते हैं। जो आपको हा सर्वस्व समझते हैं। जिनका आहार विहार सब आपके ही उद्देश्य से होता है, उन हरि भक्तों क पाद पद्मों मे मेरा अनुराग हो। उन्हीं की उच्छिष्ट प्रसादी को मैं पाऊँ, उन्हीं के चरणारविन्दों को हृदय पर धारण करके दबाऊँ, उन्हीं के पादपद्मों मे अपने सिर को नवाऊँ। उन्हीं की विरुदा वली को गाऊँ। उन्हे ही अपने व्यवहार से रिझाऊँ। साराश यह कि उन्हे ही अपना सर्वस्व समझूँ। उन्हे छोडकर अन्य किसा से मैत्री न करूँ?

प्रभो! विपयियों से मेरा सम्पर्क न हो, जिनका असत् अनित्य पदार्थों मे आसक्ति है। जो ककड पत्थर ईंट चूना मे ही अपनापन किये बैठे हैं, उन्हे हा शरार की भाँति प्यार करते हैं, एक एक अगुल पृथ्वी के लिय झूठ बोलते हैं, पाप करते हैं, असत्य व्यवहार करते हैं, उन मूढों से मेरी मैत्री न हो।

जो आपका विश्वविमोहनी माया से मोहित होकर मैं मेरी तू तेरी मे फँस कर नित्य ही लोगों से राग द्वेष करते हैं अपने को ज्येष्ठ श्रेष्ठ सम्मानित प्रतिष्ठित समझकर दूसरों का अप मान करते हैं, अन्य प्राणियों से घृणा करते हैं। जो प्राणियों में पृथकत्व स्थापित करके दूसरों का तिरस्कार करते हैं उन्हें

हेय समझकर बुरी दृष्टि से देखते हैं, ऐसे अहकारी पुरुषों से मेरा ससार में सम्बन्ध न हो।

जो अपने पुत्रों से तो प्यार करते हैं और शेष लोगों को बहिष्कृत समझते हैं। अपने पुत्रों के लिये तो सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं, किन्तु कोई दीन दुखिया भूखा प्यासा आ जाता है, उसे दुतकार देते हैं, उसे एक रोटी का टुकडा भी नहीं देते। हे सर्वान्तर्यामी प्रभो! ऐसे भिन्न दृष्टि वाले असत्पुरुषों में मेरी *आसक्ति न हो। हे नाथ! मुझे तो सर्वदा* साधुओं का ही सत्सग प्राप्त हो। जो इस हाड माँस के शरीर में अत्यन्त ही अनुरक्त हैं। जो इस थूक, खकार, कफ से भरेहुए मुख को देखकर मोहित हो जाते हैं। माँसके लाल लाल दिखाने वाले अधरों के थूक मे ही जो अमृत का अनुभव करते हैं। जिनकी मलमूत्र के स्थानों मे अत्यत आसक्ति है, जो हाड, मास, मेदा, मज्जा, रक्त, नख, बाल, विष्ठा, मूत्र, पुरीष, कफ, पित्त, दुर्गन्धियुक्त वायु से भरे शरीर सयोग को ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझते हैं। जिनकी अशुचि पदार्थों मे शुचि बुद्धि है, जो अनित्य को नित्य माने बैठे हैं। जो कामिनी को ही कल्पलता मानकर उसके क्रीडा मृग बने हुए हैं, उसी के सकेत पर सदा नाचते रहते हैं। जिन्हें धर्म, कर्म, पाप पुण्य का कुछ भी ध्यान नहीं जो माता, पिता, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों की सेवा से रहित हैं। भाँति भाँति के विषय सम्बन्धी पदार्थों से प्रियतमा को ही प्रसन्न करने मे लगे रहते हैं, जिन्हें प्रभुपूजा से प्रेम नहीं, तीर्थ, व्रत उपवास आदि का कोई नियम नहीं, जिनके कर्ण कुहरों मे कभी कृष्ण कथा पड़ी *नहीं। जो सदा कोकिलबैनी कामिनियों के ही कल कठ को सदा* श्रवण करने को उत्सुक बने रहते हैं। जिनकी जिह्वा से कभी

भूल में भगवान् के त्रैलोक्य पावन सुमधुर नाम नहीं निकलते, ऐसे स्त्रीजित्, कामलपट, विषयी पुरुषों से हे कामारि! हमारा भूल कर भी प्रेम न हो। हम उन्हें अपना हितैषी सम्बन्धी न समझें। जिस जिस योनि में जहाँ जायँ हमें साधु संग मिले। हम सेवक हों तो साधुओं के हों, पशु हों तो ऐसे हों जो साधु सेवा में काम आते हों, वृक्ष हों तो ऐसे हो जिनका ईंधन जिनकी दन्त धावन आदि का साधुओं की सेवा में उपयोग होता हो। यदि हम मनुष्य हों, तो ऐसे हों, जिनसे साधु प्यार करते हों, जिन्हें भगवत् भक्त अपना कृपापात्र मानते हों। यदि हम सूकर कूकर हों, तो ऐसे हों, जो साधुओं के समीप रहते हों, यदि हमें पक्षी बनना पड़े, तो हम उन्हीं वृक्षों पर निवास करें जो साधुओं के आश्रम में लगे हों, जिन पर बैठ कर कृष्ण कथा कृष्ण नामकीर्तन श्रवणका सुयोग प्राप्त हो सकता हो। हे नाथ! ऐसा वरदान हमें दीजिये। यही आप के पाद पद्मों में हे नृसिंह! मेरी पुन पुन प्रार्थना है। हे हरे त्राहि माम। हे राघव! रक्ष मा। काम क्रोधादि शत्रुओं से रक्षा करो!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वृत्रासुर भगवान् की स्तुति करते २ बेसुधि बन गया। उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही। उसने निश्चय कर लिया मुझे दधीचि की अस्थियोंसे बने वज्र से मरना ही है। इसीलिये वह निश्चिन्त हो गया।

छप्पय

सदा साधु को संग होहि मन अनत न जावे।
कान कृष्ण की कथा सुनें रसना हरि गावे॥
साधुनि में ई रहूँ सीथ परसादी पाऊँ।
पादोदक सिर धारि प्रेम तें चरन दबाऊँ॥
प्रभु पूजा महँ निरत जे, कथा कीरतन करहिं नित।
तिन हरि भक्तनि के चरन, महँ मेरो अति रमे चित॥

पराजित देवेन्द्र को वृत्र का उपदेश

(४११)

युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनाम्,
जयस्तदैकत्र न वै परात्मनाम्।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरम्,
सर्वज्ञमाद्य पुरुष सनातनम् ॥❀
(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

इस्तुति करिके वृत्र उठ्यो सुरपति पै धायो।
गर्जन तर्जन करी फेंकि तिरशूल चलायो॥
इन्द्र न विचलित भये बाहु निज रिपुकी काटी।
मार्यो अरि ने परिघ इन्द्र की ठोडी फाटी॥
वज्र हाथ तें गिरि पर्यो, सुरपति लज्जित है रहे।
नहीं उठायो अस्त्र जब, वृत्र वचन तब प्रिय कहे॥

प्राणी न बली है न निर्बल। काल ही उसे कभी बलवान बना देता है, कभी निर्बल कर देता है। ऐसा न होता तो बल

❀ लज्जित हुए इन्द्र को उपदेश देते हुए वृत्रासुर कह रहे हैं—"हे इन्द्र! जो आदि पुरुष प्रभु सर्वज्ञ हैं, सनातन हैं और इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय करने में समर्थ हैं, उन श्रीहरी को छोड़कर अन्य देहाभिमानी युद्धोत्सुक आततायियों को सदा जय ही प्राप्त नहीं होती। कभी जीत जाते हैं कभी हार जाते हैं।

वान् पुरुषों की सदा विजय ही हुआ करती। निर्बल सदा हारा ही करते। संसार में अर्जुन से बड़ा बली कौन था, जिसे ग्रामीण भीलों ने लाठियों से परास्त कर दिया। उग्रसेन ने कभी कल्पना भी न की होगी, कि अब मैं फिर राजा बन जाऊँगा। जिसे अपने अत्यंत बलवान और सगे पुत्र ने ही बन्दी बना लिया है, उसका छुटकारा तभी हो सकता है, जब कंस से भी कोई बली आकर इसे मारे। जो कंस को मार सकेगा, वह स्वयं ही राज्य सिंहासन पर बैठेगा, इसीलिये उग्रसेन राज्य की आशा खो चुके थे, किन्तु समय के प्रभाव से वे ही फिर समस्त यादवों के सम्राट बने। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है, कि बल पौरुष सदा काम नहीं देता। कभी कभी बली भी हार जाते हैं और कभी निर्बल भी जीत जाते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वृत्रासुर ने बड़े प्रेम से भगवान् की स्तुति की। उसने निश्चय कर लिया, कि युद्ध में विजय की अपेक्षा हँसते हँसते शत्रु के हाथ से मर जाना ही श्रेष्ठ है। संसार में कोई भी काम तभी तक दुर्लभ होता है जब तक मनुष्य मृत्यु से डरता है। जिसने हथेली पर सिर रख लिया वह निर्भय हो जाता है। फिर वह जो चाहे करने में समर्थ हो जाता है।

अब वृत्रासुर को मरने से तो भय था ही नहीं। उसने अपना बड़ा भारी अग्नि के समान जाज्वल्यमान तीक्ष्ण त्रिशूल उठाया और उसे घुमाता हुआ इन्द्र की ओर उसी प्रकार झपटा जैसे लवा पक्षी की ओर बाज झपटता है। जैसे सिंह हाथी पर प्रहार करता है। इन्द्र सम्हले हुए थे, वे उस असुर के प्रहार से उसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार सूकर भगवान् हिरण्याक्ष दैत्य की गदा से विचलित नहीं हुए थे। मधुकैटभ के प्रहार से

विष्णु भगवान् जैसे निर्भय खडे रहे थे, उसी प्रकार इन्द्र अपने स्थान से तनिक भी हिले डुले नहीं। अब तो वृत्रासुर क्रोध में भर गया था, उसने पूरी शक्ति लगाकर कई बार घुमाकर अपने त्रिशूल को इन्द्र पर फेंका और प्रलय कालीन मेघ के समान गर्ज कर बोला—"ले, पापी ! तू अब ब्रह्महत्या और गुरुहत्या के पाप का फल चख। तू अब मारा गया, इस त्रिशूल से तू अब बच नहीं सकता।

उस इतने भयङ्कर तीक्ष्ण और उलका के समान घूमते हुए दुर्दर्शनीय त्रिशूल को वेग के साथ अपनी ही ओर आते देखकर देवेन्द्र न तो घबराये न व्यथित ही हुए। हाथ में वज्र लिये निश्चल भाव से जहाँ के तहाँ डटे रहे। उन्होंने वृत्र और त्रिशूल दोनों को ही लक्ष्य करके अपना वज्र चलाया। उस वज्र से वह अमोघ त्रिशूल तो टुकडे टुकडे होकर भूमि पर गिर ही पडा, साथ ही जिस हाथ से वृत्रासुर ने उस त्रिशूल को छोडा था, उसे भी उस अव्यर्थ अस्त्र ने जड मूल से काट डाला। उस भयकर असुर की कई योजन लम्बी भुजा भूमि पर पडी उसी प्रकार दिखाई दे रही थी मानो शेषनाग पृथिवी का भार छोडकर भूमि के ऊपर लेट रहे हों। या नागराज वासुकी देवासुर सग्राम देखने को भूमि पर पडे हों।

अपना एक हाथ कट जाने से वृत्रासुर को बडा क्रोध आया लाल लाल आँखें करता हुआ वह दूसर हाथ में,एक बडा भारी दृढ परिघ लेकर प्रलयान्तक अग्नि के समान इन्द्र का विनाश करने के लिये दौडा। उसने इन्द्र को लक्ष्य करके इतनी सावधानी से परिघ को चलाया कि उसका लक्ष्य व्यर्थ नहीं हुआ। वह परिघ जाकर इन्द्र की ठोडी में लगा जिससे देवेन्द्र तिलमिला उठे और उनका ऐरावत घायल होकर हट गया। इतना ही नहीं

रयके कारण इन्द्र के हाथ से दधीचि मुनि की पावन अस्थियों से बना वह अमोघ अस्त्र भी छूटकर भूमि पर गिर पड़ा।

इन्द्र ने अपनी पराजय मान ली। वे अत्यन्त लज्जित हुए किंकर्तव्य विमूढ बने ज्यों के त्यों खड़े रहे। वृत्र चाहता तो ऐसी स्थिति में इन्द्र को मार गिराता, किन्तु वह तो धर्म के मर्म का जाननेवाला वीर शिरोमणि था। जिस वज्र में अनन्त तप तेज निहित है, जिसमें स्वय साक्षात् श्रीहरि की शक्ति प्रवेश कर गई है, उस वज्र को अमराधिप इन्द्र के हाथों से गिरा देना कोई साधारण कार्य नहीं है। वृत्रासुर के उस अति अद्भुत महान परा क्रम और अनुपम साहस की देवता, असुर, सिद्ध चारण, गन्धर्व, उरग, राक्षस, भूत, वैताल, डाकिनी, साकिनी, कूष्माड, गुह्यक, योगिनी, रुद्रानुचर तथा अन्य सभी ऋषि मुनियों ने प्रशसा की। वे सब यह समझ कर कि अब तो इन्द्र मारे जायेंगे, अत्यन्त ही दुखी हुए। इन्द्र ने भी समझा अब मेरी विजय नहीं हो सकती। उनका अमोघ अस्त्र हाथ से छूटकर वृत्रासुर के समीप ही पडा था, किन्तु उस वीर ने उस पृथिवी पर पड़े हुए तप तेजयुक्त वज्र को दूर से ही प्रणाम किया। उसने गौरव से उसे उठाया नहीं। इन्द्र तो अत्यन्त ही लज्जित हो रहे थे, उनका साहस भग हो गया, मुख म्लान पड़ गया, लज्जा के कारण उन्होंने गिरे हुए अस्त्र को फिर उठाया नहीं।

इन्द्र को लज्जित और युद्ध से पराङ्मुख हुआ देखकर वृत्रासुर हँसते हुए बड़े मधुर वचनों मे उनसे बोला—"हे देवेन्द्र, इतना दु ख क्यों करते हो? यह विषाद का समय नहीं है, साहस को मत खोओ, लज्जा मत करो, गिरे हुए अस्त्र को फिर से उठाओ मैं तुम्हारा शत्रु सम्मुख खडा हूँ मुझ पर सावधानी के साथ प्रहार करो।"

यह सुनकर अत्यन्त ही मीडित हुए देवेन्द्र बोले—"भै क्या लड़ें ? तुमने मुझे युद्ध मे परास्त कर दिया। जो यु में शत्रु से पराजित हो गया, उसमे साहस कहाँ रहता है ?

हँसते हुए वृत्रासुर ने कहा—"अरे, इन्द्र ! तुम इतने बुद्धि मान होकर भी ऐसी भूली भूली सी बातें कर रहे हो ? भैया युद्ध मे जब दो लडते हैं, तो उनमे से एक हारता है, एक जा जाता है। यह जय, पराजय तो सदा लगी ही रहती है विश्वम्भर हैं, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण है जो अज, अखिलेश, सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वसमर्थ, अविनाशी अ अच्युत हैं, उनकी तो कभी पराजय होती नहीं। नहीं तो भैया ससार मे ऐसा कौन है जिसकी सदा जय ही हुई हो। बड़े बड़े बली, शक्तिशाली शूरवीरों को पराजित होना पड़ा है, हिरण्य कशिपु, हिरण्याक्ष, मधु कैटभ, रावण, कुम्भकर्ण ये इतने इतने भारी शूरवीर हुए हैं, कि इनके डरसे समस्त लोकपाल थर थर काँपते थे, जिन्हे तपस्या के द्वारा असख्यों वरदान प्राप्त थे। एक दिन युद्ध में इन सब को भी पराजय का अनुभव करना पड़ा इस लिये भैया, तुम चिन्ता मत करो। ससार मे जो भी युद्ध करने चला है, उसकी कभी विजय हो जाती है, कभी शत्रु द्वारा परा जित भी हो जाता है।"

इन्द्र ने पूछा—"हे असुरेन्द्र ! यह जय पराजय किसके ऊपर अवलम्बित है ? क्या अपने पुरुषार्थ से जय नहीं होती ?

यह सुनकर शीघ्रता के साथ वृत्र ने कहा—'होती क्यों नहीं, विजय तो पुरुषार्थ से ही होती है, किन्तु सर्वत्र पुरुषार्थ काम देता ही हो, सो बात नहीं। जब विपरीत प्रारब्ध हो जाता है, तब सभी पुरुषार्थ उद्योग धरे के धरे ही रह जाते हैं। जिस

समय जैसा काल होता है, उस समय वैसे ही वानिक बन जाते हैं। जैसा राग निकलने को होता है, उसके पूर्व ही वैसा ठाठ बँध जाता है। यथार्थ बात यह है, कि जय पराजय में मुख्य कारण काल है, यह काल दुर्निवार है। ये जितने भी लोक हैं, इनके जितने भी अविरति लोकपाल हैं ये सब के सब काल के गाल मे फँसे उसी प्रकार विवश होकर चेष्टायें करते हैं, जैसे जाल मे फँसे पक्षी भाँति भाँति की भय युक्त चेष्टायें करते हैं, तड़फड़ाते हैं, बिलबिलाते हैं, उससे निकलने का प्रयत्न करते हैं, परों को फटफटाते हैं, किन्तु विवश होने के कारण उससे निकल नहीं सकते। यह सम्पूर्ण विश्व काल के अधीन है। वृक्ष काल पाकर ही फलते हैं। फल काल पाकर ही पकते हैं, फूल काल पाकर ही खिलते हैं, पत्ते काल से ही हिलते हैं, प्रेमी काल पाकर ही परस्पर मे मिलते हैं। सभी का काल नियत है, जो कार्य जिस काल मे होना होगा, वह उसी काल मे होगा। तुम लाख प्रयत्न करो अमावस्या को पूर्ण चन्द्रमा उदित हो जायँ नहीं होंगे, वे तो पूर्णिमा को ही पूरे होंगे। काल ही प्राणियों के मनोबल, इन्द्रियबल, प्राण, जीवन मृत्यु, सुगति, दुर्गति, जय, पराजय, मान, अपमान, सत्कार, तिरस्कार आदि के रूप में स्थित है।"

इन्द्र ने आश्चर्य के साथ पूछा—"महाभाग वृत्रजी! आप तो बड़ी ऊँची बातें कह रहे हैं, फिर कर्ता की स्वतंत्रता कहाँ रही। व्याकरणादि शास्त्रों में तो कर्ता को स्वतन्त्र बताया है।

हँसकर वृत्रासुर ने कहा—"हे अमरेश! तुम भूलकर रहे हो। जीव को स्वतन्त्रता कहाँ? यथार्थ कर्ता तो श्रीहरि ही हैं। वे ही विश्व ब्रह्माड के पूर्ण रूप से कर्ता, भर्ता, हर्ता और विधाता हैं। यह प्राणी तो परतन्त्र है। जैसे नाक में नाथ डालकर स्वामी

पशुओं को नचाता है, वैसे ही ये सब उन सर्वाधार के सकेत पर नाच रहे हैं। जैसे काठ की पुतली स्वत नृत्य नहीं करती परदे के भीतर बैठा हुआ व्यक्ति उन्हें इच्छानुसार घुमाता है। तुमने देखा होगा मेले ठेलों मे बच्चों को झुलाने के लिये यन्त्र आते हैं। गोल गोल डडो पर काठ के बने बहुत से घोडे रहते हैं। बच्चे पैसा देकर घोडो पर चढते हैं। चक्र वाला व्यक्ति उनको इच्छा नुसार घुमाता है। अज्ञ बालक समझते हैं, ये घोडे स्वत घूम रहे हैं। वे बडे गर्व से माता पिता से आकर कहते हैं, आज हम घोड़े पर चढकर बहुत घूमे। उन्हे पता नहीं उन काठ के घोडों में स्वत घूमने की सामर्थ्य नहीं। घुमाने वाला तो उनसे पृथक् ही चैतन्य था। ये घोड़े तो जड हैं, स्वत घूमने मे असमर्थ हैं। इसी प्रकार भूतभावन भगवान् इन सम्पूर्ण भूतो को कालचक्र पर बिठाकर घुमा रहे हैं, नचा रहे हैं, खिला रहे हैं, सुला रहे हैं, अपना मनोरजन कर रहे हैं।"

लोग भूल से कहते हैं सृष्टि की उत्पत्ति में पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहत्तत्व, पचभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, अन्त करण की मनोबुद्धि, चित्त और अहकार ये वृत्तियाँ कारण हैं। इन सब के वास्तविक कारण तो करुणेश हरि ही हैं, उनके बिना ये कोई भी कुछ करने में समर्थ नहीं।

इन्द्र ने चकित होकर कहा—"प्राणी यदि न चाहें, तो यह सृष्टि आगे कैसे चले। जब मनुष्य सकल्प पूर्वक गर्भाधान आदि करता है तभी सृष्टि वृद्धि होती है, मनुष्य निष्क्रिय हो जायँ तो ससार का कोई व्यवहार ही न हो।"

वृत्र ने कहा—"निष्क्रिय हो जाना कुछ पूड़ी के ऊपर का पुआ तो है नहीं, जो झटमुँह में गये पट निगल गये। निष्क्रिय

तो तब हो जाँय जब यह जीव स्वतन्त्र कर्ता भोक्ता ईश्वर हो। इन सब प्राणियों के एक मात्र नियामक तो भगवान् वासुदेव ही हैं। वे ही प्राणियों के द्वारा प्राणियों का रचना करते हैं। वे ही जीवों से जीवों का उत्पत्ति कराते हैं और फिर वे ही उनका जीवों से संहार भी करा देते हैं। जीव जीव को जन्म देता है और जीव जीव को खा भी जाता है। सब उन्हीं क्रीडाप्रिय मुकुन्द की इच्छा से हो रहा है। जिस समय जिसका जैसा काल होता है, उस समय वैसी ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं जय पराजय, सुख दुख सभी रथ के पहिये के समान काल के अधीन होकर प्रेरणा से प्राणियों के पास आते और जाते हैं।

इन्द्र ने कहा—'हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ असुरराज! मनुष्य अपने पुरुषार्थ से क्या दुःखों को मेट नहीं सकता? पराजय को विजय के रूपमे परिणित नहीं कर सकता?"

खीजकर वृत्रासुर ने कहा—'कैसे कर सकता है भैया, जब स्वतंत्र हो तभी तो कर सकेगा। यदि पुरुषार्थ से ये अन्यथा किये जा सकते, तो संसार में कोई रोगी न होता, किसी का अपयश न होता, कोई मरता नहीं। स्वेच्छा से रोगों को, अपयश को, मृत्यु को, कौन चाहता है? किन्तु बिना चाहे भी प्राणियों को नाना रोग होते हैं। न चाहने पर भी ज्वर आ जाता है सिर में पीड़ा होने लगती है कोई भी अपना अपयश नहीं चाहता, सभी चाहते हैं, सर्वत्र हमारी प्रशंसा हो, सभी हमारा सत्कार करें, सब से हम श्रेष्ठ समझे जायँ, किन्तु यश कितनों को मिलता है? बड़े बड़े लोगों की अपकीर्ति फैल जाती है। जब काल विपरीत होता है तब रोग, शोक जरा मृत्यु, अपयश आदि इच्छा के प्रतिकूल वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, जब वही काल अनुकूल होता है, तो इच्छा-

नुसार यश, ऐश्वर्य, भोग, विभव, आयु लक्ष्मी और कीर्ति का प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को प्रतिकूल वस्तुओं का प्राप्ति म न तो विषाद करना चाहिय न अनुकूल पदार्थो का प्राप्ति में फूल कर कुप्पा ही हो जाना चाहिये। सुख दु ख यश अपयश, जय पराजय, जीवन मरण आदि मे सर्वदा समानभाव से रहना चाहिये।

इन्द्र ने कहा—"हे ज्ञानी असुरर्षभ ! ये तीनों गुण ही आत्मा को बाँधे हुए हैं। इन् गुणों के ही कारण आत्मा सुखी दुखी होता है।"

वृत्र ने कहा—'देवेन्द्र ! यह बात नहीं। ये सत्व, रज और तम तीनों गुण आत्मा के नहीं हैं। ये तो प्रकृति के गुण हैं। आत्मा तो केवल साक्षी मात्र है। जैसे रात्रि के समय भवन में दीपक जल रहा है। दीपक न कुछ करता है न कहता है। उसके आलोक से ही सब वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं। जहाँ उसने अपने प्रकाश को अपने मे लीन कर लिया, तहाँ वस्तुएँ रहने पर भी उनकी प्रतीति नहीं होती। दीपक के सान्निध्य मे ही वे दिखाई देती हैं। उसी के प्रकाश मे गृह के लोग कार्य करते हैं। इसी प्रकार प्रकृति का समस्त पसारा आत्मा के आलोक पर ही निर्भर है। आत्मा कर्ता भोक्ता नहीं वह तो केवल कूटस्थ साक्षि मात्र चैतन्य घन है। वह प्रकृति के गुण दोषों से सर्वथा निर्लिप्त बना रहता है। जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह प्रकृति से सुख दुख, जय, पराजय आदि द्वन्द्वों मे लिप्त नहीं होता। अत मैं जय पराजय दोनों मे सम हूँ।"

इन्द्र ने आश्चर्य से कहा—"महाराज ! आप को कुछ दु ख नहीं होता।"

हँसकर वृत्रासुर ने कहा—"यदि मैं भगवत् कृपा का अनुभव न करता होता, तो मुझे दुःख होता। अब तो मैं समझता हूँ, मेरे प्रभु की यही इच्छा है वे मुझ से समर करना चाहते हैं, अतः कर्तव्यबुद्धि से मैं समर कर रहा हूँ। देखो, तुमने मेरा हाथ काट दिया है, मैं हस्तहीन हो गया हूँ, फिर भी तुम्हारे प्राण लेने का उद्योग कर रहा हूँ, इसी प्रकार तुम भी अपने कर्तव्य का पालन करो। यह तो भैया खेल है, युद्ध तो एक प्रकार का जुआ है, इसमें कभी किसी का दाव लग जाता है, कभी किसी का कभी कोई हार जाता है, कभी कोई जीत जाता है। किसी को पता नहीं रहता मैं हार ही जाऊँगा या मेरी विजय निश्चित ही है, अतः तुम चिन्ता मत करो विषाद को त्याग करो। गिरे हुए इस अमोघ वज्र को फिर से उठा लो। मैं तुम्हारा शत्रु समर में सम्मुख खड़ा हूँ, मुझ पर सावधानी से प्रहार करो। देखना है अब किसका पासा उलटता है। ऊँट किस करवट बैठता है। विजय लक्ष्मी किसे वरण करती है। विजय तो तुम्हारी निश्चित ही है, क्योंकि तुम्हारे वक्ष में भगवान् वासुदेव विराजमान हैं। फिर मैं तुम्हें सहज में न छोड़ूँगा। शक्तिभर घनघोर युद्ध करूँगा या तो तुम्हें परलोक ही पहुँचा दूँगा, या मैं स्वयं ही मरकर अपने स्वामी की सेवा में सदा के लिये पहुँच जाऊँगा।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्र के ऐसे गूढ़ ज्ञान से भरे वचनों को सुनकर इन्द्र परम विस्मित हुए उन्होंने गिरे हुए

वज्र को उठा लिया और वे वृत्र के इस ज्ञान की पुन पुन' प्रशसा करते हुए उनके वचनों का अभिनन्दन करने लगे।"

छप्पय

इन्द्र करो मत सोच वज्र कूँ फेरि उठाओ।
सदा कौन की भई विजय यह मोइ बताओ॥
यश अपयश जय अजय दु ख सुख रहैं सग महँ।
रोग शोक भय हर्ष होहि नहिं कवन अङ्ग महँ॥
युद्ध द्यूत क्रीडा सरिस, दोउन महँ को कब थके।
जय होवे या पराजय, निश्चय कोउ न कहि सके॥

इन्द्र द्वारा वृत्र के वचनों का अभिनन्दन

(४१२)

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्यते मतिरीदृशी।
भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृद जगदीश्वरम्॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

सुनी भक्तिमय मधुर वृत्र की सुरपति बानी।
बोले आदर सहित अहो, दानव! तुम ज्ञानी॥
सब जीवन कू विश्व मोहिनी मोहे माया।
असुर होहि जस कृष्ण करी कस तुम पर दाया॥
तुम विजयी हों पराजित, तोऊ सम्मुख लरह्यो।
क्षुद्र स्वर्ग सुखके निमित, समर असुरवर करह्यो॥

सत्य के सम्मुख सभी को सिर झुका देना पड़ता है। सत्य जहाँ से भी निकलेगा वहीं चमकेगा। मोती साप से निकलता है, कमल कीच से होते हैं कस्तूरी मृग के हृदय से निकलती है।

---

* वृत्रासुर के ज्ञानमय उपदेश को सुनकर देवराज इन्द्र उसकी प्रशंसा करते हुये कहने लगे—अहो! हे दानव! अवश्य ही तुम कोई सिद्ध हो निश्चय ही तुमने सम्पूर्ण जीवों के आत्मा और सुहृद स्वरूप जगदीश्वर श्रीहरि की आराधना की है। इसलिये तुम्हारी ऐसी शुभ मति है।

शहद मक्खियों के मुख से उगला हुआ होता है, शङ्ख हड्डी होत है रेशम कीडों के मुख से उन्हें मार कर निकाला जाता है ये स वस्तुएँ अपात्र के संसर्ग से अपावन नहीं मानी जाती। सुवर्ण चाहें जहाँ पड़ा हो, चाहे जहाँ से उत्पन्न हुआ हो उसका सभ आदर करते हैं, इसी प्रकार भगवद् भक्ति किसी भी जाति के किसी भी वर्ग के पुरुष के हृदय मे उत्पन्न क्यों न हो वह सराह नीय है श्लाघनीय है वन्दनीय और पूजनीय है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्र की बात सुनकर इन्द्र कहने लगे—वृत्रासुर! भैया, तुम ही धन्य हो जो असुर होकर युद्ध मे भी तुम्हारी ऐसा दृढ मति बनी हुई है। निश्चय पूर्व जन्म मे तुमने विविध भाँति के दैव कर्म किये हैं अग्नि, अतिथि और गुरुजनों की तुमने निष्कपट भाव से आरा धना की है। तुमने अपने शील सदाचार से पूर्व जन्मों में अवश्य ही प्रभु को प्रसन्न कर लिया होगा तभी तो नीच तामस असुर योनि मे आकर भी तुम्हारी ऐसी विशुद्ध बुद्धि बनी हुई है। भग वान् इन चराचर प्राणियों के भीतर समान भाव से रम रहे हैं, वे ही सब की आत्मा हैं। प्राणिमात्र के सुहृद हैं, सखा हैं, हितैषी हैं, उन जगदात्मा श्रीहरि की ही उपासना का यह फल है कि रणांगन में भी आपकी मति कुंठित नहीं। हम अब तक यही सुना करते थे कि भगवान् की दैवी माया बड़ी दुस्तर है। बड़े बड़े ज्ञानी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। इस तीक्ष्ण धारावाली सरिता को हाथों द्वारा तैर कर किनारे पर पहुँचते पहुँचते डूब जाते हैं किन्तु मैं दृढता के साथ कह सकता हूँ, कि आप इस विश्वमोहिनी माया को तर गये। आप इसे उपासना द्वारा पार कर गये।

वृत्र ने कहा—देवेन्द्र तुमने यह बात कैसे जानी ?

इन्द्र दृढता के स्वर में—"बोले बन्धुवर ! देखिये हम सत्व प्रधान देवता कहलाते हैं। किन्तु फिर भी माया के चक्कर में फंसे हुए हैं। भोग की वासनाओं में अंधे होकर प्रकृति का अनुसरण कर रहे हैं, किन्तु तुम आसुरी योनि में जन्म लेकर भी आसुरी प्रकृति से निर्मुक्त बने हुए हो। तुम्हें ससार की माया ने स्पर्श तक नहीं किया। अवश्य ही तुम महापुरुष हो। तुम्हारी उपासना बडी ऊँची है। प्राय देखा गया है, कि विशुद्ध सत्व धाम श्री हरि में उन्हीं पुरुषों का चित्त स्थिर होता है जो सात्विकी प्रकृति वाले होते हैं, सतोगुणी कार्य करते हैं। किन्तु तुम्हार सब कार्य रजोगुणी हैं। रज और तम प्रधान असुर योनि में तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम्हारे साथी भी सब रजोगुणी असुर हैं, फिर भी तुम सर्वात्म भाव से भगवान् के भक्त हो। भगवान वासुदेव में तुम्हारी बुद्धि इतनी दृढ़ता के साथ लगी हुई है, कि इसे देख कर मैं तो विस्मित तथा लज्जित हो रहा हूँ। अब मैं समझ गया कि आप स्वर्ग पर राज्य करने की इच्छा से युद्ध नहीं कर कर रहे हैं।"

हँसते हुए वृत्र ने पूछा—"तब तुम मेरे युद्ध का क्या कारण समझे हो ?"

इन्द्र ने कहा—"मैं समझता हूँ आप कर्तव्य बुद्धि से अपने पिता की आज्ञा का पालन कर रहे हो आपको हर्ष विषाद कुछ भी नहीं है। न आपको मेरे प्रति द्वेष भाव ही है। जय पराजय दोनों में ही आपकी बुद्धि सम है। फिर आप स्वर्गीय सुखों की वांछा करने ही क्यों लगे। अजी जिन्होंने मोक्षपति भगवान् वासुदेवके प्रेमामृत से भरे सुधा समुद्र में क्रीडा करली। जो उसका सुख लूट चुके, उन्हें फिर भला ससारी विषय भोग रूप क्षुद्र गढों में सड़े तालाबों में दुर्गन्धि युक्त जलोंमें विहार करने की

स्पृहा क्यों होने लगा। महाभाग ! जैसा ज्ञान आज आपने दिया है, ऐसा ही ज्ञान एक बार मुझे महाभाग बलि ने दिया था। उस ज्ञान को सुनकर मेरा मोह दूर हो गया था।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! बलि ने इन्द्र को ज्ञान कब दिया ? क्यों दिया ? वह ज्ञान कैसा था ? यदि आप उसे उचित समझें और बताने योग्य हो तो हमें उसे अवश्य बतावें। वृत्र की इन बातों को सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियों ! मैं महाभाग परम भगवद्भक्त बलि और इन्द्र के इस सम्वाद की वार्ता संक्षेप में सुनाता हूँ। आप सब दत्त चित्त होकर श्रवण करें एक बार बलि ने इन्द्र पर चढाई की बडा घमासान युद्ध हुआ। बलि की बहुत सी सेना मारी गई असुरों का पराजय हुई, देवताओं ने असुरों को बहुत मारा और भागते हुओं को भी खदेरा। असुर राज बलि भी घायल हुए। इन्द्र ने उनका पीछा किया। भागते भागते वे पृथिवी में कहीं जाकर छिप गये।

एक बार इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर चढकर पृथिवी पर आये। उनके ऊपर छत्र लगा था, दोनों ओर चँवर डुल रहे थे। आगे २ गधर्वगान करते जाते थे, अप्सरायें नाच रहीं थीं। वन्दीजन उनके पराक्रमों का गान कर रहे थे। इस प्रकार स्वर्गीय श्री से सम्पन्न देवेन्द्र बडे ठाठ बाट से जा रहे थे। जाते समय उन्होंने एक फूटे किले के समीप ही एक गदहे को चरते देखा। गदहा उस मैले कुचैले स्थान में बडे आनन्द से सड़ी गली वस्तुओं को खा रहा था। उस गदहे को हृष्ट पुष्ट और अकेले देखकर इन्द्र को कुछ विस्मय हुआ। उन्होंने ध्यान लगाकर देखा, तो ज्ञात हुआ कि यह तो असुरराज बलि है। गदहे का

रूप रखकर अपने दिन काट रहे हैं। यह देखकर इन्द्र को बडी हँसी आई और बडे गर्व से कहने लगे—"कहिये, असुरराज ! आज तो गदहा बने घूम रहे हो। एक बार तुमने मुझे स्वर्ग के सिंहासन से भगा दिया था। उस समय की तुम्हारी श्री कहाँ चली गई। उस समय तो तुम स्वर्णसिंहासन पर बैठते थे। छत्र चवरों के नीचे रहते थे। आज यह निंदित वेष ? तुम्हें लज्जा भी नहीं लगता। कहो तो मैं अभी तुम्हें मार गिराऊँ।

इतना सुनते ही असुरे द्र बलि बोले—"अरे, इन्द्र ! तुझ जैसे अज्ञानियों को दु ख होता है। मैं तो इसमें दुख का कोई कारण नहीं देखता। यह तो समय की बलिहारी है। एक दिन हमारा वह भी समय था एक दिन आज भी है। उस समय न मुझे हर्ष था और न इस समय कोई विषाद। यह तो गुण प्रवाह है। सुख दुख जय पराजय, अनुकूल प्रतिकूल ये सब तो समयानुसार आते जाते रहते हैं। बुद्धिमान इन बातों से मोहित नहीं होते। तुझ जैसे अज्ञानी ही दुख मे दुखी होते हैं और सुख मे मारे अभिमान के आपे से बाहर हो जाते हैं। आज मेरा ऐसा समय है, इसे भी मैं प्रभु की देन समझकर भोग रहा हूँ। एक दिन फिर वह समय आवेगा कि तुझे इ द्र पद से हटा कर मैं स्वय इन्द्र बन जाऊँगा।

रही मारने की बात। सो, जब तक मेरा मरने का काल नहीं आता तब तक तू मुझे मार ही नहीं सकता। मारने वाले और जिलाने वाले तो मेरे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही हैं, तू भी उनका ही बनाया हुआ इन्द्र है। वे तुझे समय आने पर इन्द्र पद से उतार कर उसी प्रकार फेंक देंगे, जैसे ससारी लोग दूध मे से मक्खी को निकाल कर फेंक देते हैं।"

इन्द्र ने कहा—'हे असुराधिप ! यहाँ अकेले आपको इस

निन्दित योनि मे कष्ट नहीं प्रतीत होता ?"

इस पर बलि ने कहा—"कष्ट उन्हीं को होता है, जो इन वैषयिक पदार्थों को सत्य मानते हैं। मेरी तो इन पदार्थों में सत् भाव की आस्था ही नहीं। मैं तो भगवत् चिन्तन को ही मुख्य मानता हूँ। भगवान् का चिंतन बना रहे, फिर चाहे सूकर कूकर योनि हो या देवयोनि दोनो ही बराबर हैं। तुम्हे जो सुख अपनी इन्द्राणी के साथ है। सूकर को वही सुख अपनी सूकरी के साथ है। जो लोग अज्ञानी हैं, वे विषयो की प्रचुरता और न्यूनता में सुखी दुखी होते हैं। मुझे तो इस योनि मे कोई भी कष्ट नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! असुर राज बलि की ऐसी बातें सुनकर लज्जित हुए देवेन्द्र वहाँ से चले गये। उन्होंने जिस प्रकार बलि की बातो का अभिनन्दन किया था उसी प्रकार वृत्रासुर की बातों का भी अभिनन्दन किया। अब वृत्र में और इन्द्र में जो बड़ा भारी घमासान युद्ध होगा उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

तुम कृतार्थ ह्वै गये भक्ति भगवत की पाई।
पर उपकारक असुर ज्ञान दै करी भलाई॥
हम तो भैया! विषय भोग महँ सदा निरत हैं।
इन्द्रासन रक्षार्थ करें हम यत्न सतत हैं॥
प्रभु पद पद्मनि महँ परे, विजय पराजय सम तुम्हें।
धर्म युद्ध कर्तव्य हित, करनो चहिये अब हमें॥

— ० —

वृत्र के उदर में देवेन्द्र

(४१३)

इति ब्रुवाणावन्योन्य धर्मजिज्ञासया नृप।
युयुधाते महावीर्या विन्द्रवृत्रौ युधापती ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १२ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

यों कहि दोनों भिरे परिघ अरु वज्र घुमावें।
क्रोधित है के फिरें परस्पर शस्त्र चलावें॥
वृत्र चलाईशक्ति बीच महँ सुरपति डाँटी।
मारयो तकि कें वज्र बाहु दूसरि हू काटी॥
असुर भुजा दोनों कटी, परबत सम घूमत फिरत।
भीषन मुखकूँ फारिकें, इन्द्र ओर दौरयो तुरत॥

ज्ञानी अज्ञानी दोनों को ही कर्म मे प्रवृत्त होते देखा गया है, किन्तु उनका भावनामे बहुत अंतर है, भावना के अनुसार ही फल भी होता है, अत ज्ञानी अज्ञानीके एक समान दीखने वाले कर्मों के फल में बडा अंतर हो जाता है। अज्ञानी पुरुष तो आसक्ति के सहित फल की इच्छा से कर्म मे प्रवृत्त होता है,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार वृत्रासुर और देवेन्द्र धर्म की जिज्ञासा से बातें करते हुए फिर परस्परमें दोनों युद्ध करने लगे दोनो ही युद्ध स्थल के अधिनायक थे।

किन्तु ज्ञानी योगी आसक्ति को छोडकर आत्मशुद्धि के निमित्त कर्म करना ही चाहिये इस बुद्धिसे—कर्मों को करते हैं। उनके फल में वैसा ही अन्तर हो जाता है, जैसे कच्चे दाने और भुने दानों के बोने से। दो खेत हैं, ज्ञानी अज्ञानी दोनों ने ही उन्हें समान भाव से जोता। जोत कर दोनों ही उसमे चने बोए। चने तो दोनों के एक से हैं खेत भी एक सा है, बोने की क्रिया भी एक सी है, डालने में दोनों एकसे काम करते दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु बीच में तनिक सा अतर है। अज्ञानी के बोने वाले बीज कच्चे हैं वे बोने के १०।५ दिन पश्चात् अकुरित हो उठते हैं, पौधे होते हैं, लाल लाल फूल लगते हैं, फिर उनमें चना के बूट लगने लगते हैं, किन्तु ज्ञानी के बीज भुने होते हैं उसने भी बो दिये। क्योंबोयेजी? अब क्यों का क्या उत्तर है? खेल खेल मे बो दिये। बैठे ठाले आलस्य मे पड़े पड़े क्या करते? बो दिये बस, बो तो गये, उनमें न अकुर हुआ न पेड हुए न फल लगे। उनका कर्म विफल हो गया। उनमें अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं की। इसीलिये कहा है कि जिसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं, जिस की बुद्धि शुभाशुभ कर्मों को करते हुए उनमें लिप्त नहीं होती, वह यदि लोगों को मार भी दे, युद्धादि क्रूर कर्मों को करे भी तो न वह मारने का दोष भागी होता है न कर्म बन्धनों में लिप्त ही होता है। उसके लिये सब खेल है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन! असुराज वृत्र म और सुरराज इन्द्र में इस प्रकार धर्म सम्बन्धी भगवद् भक्ति सम्बन्धी बातें होती रहीं। अब दोनों ने युद्ध करने की ठानी। दोनों ही परस्पर में अपने अपने अस्त्र शस्त्र लेकर भिड़ गये। एक ओर देवताओं की सम्पूर्ण सेना चुपचाप खड़ी थी, दूसरी ओर असुरों की सेना युद्ध से पराङ्मुख हुई खड़ी थी दोनों ही

ओर के सैनिक इन्द्र और वृत्र के युद्ध को बड़ी उत्सुकता से देख रहे थ। आकाश मे बहुत से विमान मँडरा रहे थे, उनमें बैठे हुए

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि दोनों के भयंकर युद्ध

को निहार रहे थे। दोनों ही वीर थे, दोनों ही बली, शास्त्रज्ञ, रण विद्या विशारद तथा नामी योद्धा थे। एक दूसरे को पराजित करने के निमित्त सतत प्रयत्न कर रहे थे।

लड़ते लड़ते शत्रुसूदन असुर वशात्वश इन्द्र-मदमर्दन वृत्रासुर ने भयानक लोहे का परिघ उठाया। पहिले तो उसे हिलाया फिर दशों दिशाओं में वेग से घुमाया और दाँतों को कटकटा कर इन्द्र के ऊपर चलाया। वृत्र के परिघ को अपनी ओर आते देखकर देवराज की सिटिल्ली भूल गई, वे पहिले तो घबराये, किन्तु फिर नारायण का स्मरण करके और दधीचि मुनि की अस्थियों के बने वज्र की महिमा जानकर वे विचलित नहीं हुए उन्होंने तानकर एक ऐसा वज्र मारा कि परिघ के तो सैकड़ों टुकड़े हो ही गये। जिस हाथ से वृत्रासुर ने उस परिघ को चलाया था उस हाथ को भी जड से काट डाला। अब तो वृत्रासुर दोनों हाथों से हीन रुण्ड मुण्ड सा दिखाई देने लगा। वह दोनों बाहुओं से हीन हुआ ऐसा प्रतीत होता था, मानों कोई पर्वत का शिखर इधर उधर घूम रहा है। राजन्! पूर्वकाल में इन सब पर्वतों के पङ्ख हुआ करते थे। ये स्वेच्छा से आकाश में उडा करते थे, जहाँ चाहते बैठ जाते। जिस स्थान में ये बैठते वहाँ के नगर ग्राम क्षेत्र सभी नष्ट भ्रष्ट हो जाते। प्रजा को बडा कष्ट हुआ। प्रजा के प्रतिनिधि एक शिष्ट मण्डल बनाकर देवेन्द्र अमर पति के समीप गये, उन्होंने सब बाण मारकर पर्वतों के पङ्ख काट दिये थे। जिस प्रकार ऊँचे शिखर वाले किसी पङ्ख कटे पर्वत के दो पैर जोड दिये हों, उसी प्रकार भुजाओं से हीन वृत्रासुर उस रणाङ्गन में दौडता हुआ दिखाई देने लगा। लडाई तो हाथों से ही होती है उसके दोनों हाथो को तो इन्द्र ने काट दिया था। अत उसने एक दूसरा उपाय सोचा।

वृत्रासुर एक तो वैसे ही बहुत लम्बा तडङ्गा था, फिर भी मायावी असुर ही ठहरा। सभी प्रकार की मायाओं को जानता था। उसने अपना विकट रूप बनाया। उसके पैर तो पृथिवी पर टिके थे। सिर का मुकुट स्वर्ग को छू रहा था। छाती भुवर्लोक तक तनी थी। इस पर तीनों लोकों को अपनी विशाल काय से ढककर उसने अपने भीषण मुख को फाडा। मुख क्या फाडा उसने एक नये ही आकाश की सृष्टि की। उसकी ठोढी तो पृथिवी मे लगी हुई थी। ऊपर का ओठ स्वर्ग को छू रहा था, उस भयानक मुख मे अजगर के समान एक जिह्वा लपलपा रही थी और कराल काल के सदृश भयङ्कर बडी बडी दाढें उस की भयङ्करता को और भी बढा रही थीं। उसके ऐसे वीभत्स रूप को देखकर देवताओं के छक्के छूट गये। पृथिवी थर थर काँपने लगी। बडे बडे पर्वत स्वत ही हिलने डुलने और गिरने लगे। देखने मे वह अत्यन्त भयङ्कर तथा डरावना लगता था। अजन पर्वत के समान वह काला था। सूर्य चन्द्र के समान उसकी दो आँखे चमक रही थीं। वह हू हू करता हुआ बडे वेग से इन्द्र की ओर दौडा। इन्द्र ज्यों ही अपने वज्र को सम्हालते हैं, त्यों ही वह ऐरावत के सहित इन्द्र को निगल गया। जैसे हम लोग दाल भात को मिलाकर उसके ग्रास को निगल जाते हैं वैसे ही ऐरावत रूप दाल को इन्द्र रूप भात के ग्रास के साथ कदरा रूप मुख के द्वारा वृत्रासुर ने पेट रूप आकाश मे विलीन कर लिया।

अब देवताओं की बुरी दशा थी, वे डरकर दशों दिशाओं में भागने लगे। असुरों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे सम्पूर्ण बल लगाकर वृत्रासुर की जय बोलने लगे। उन्होंने अपने जय-जयकारों से दशों दिशाओ को भर दिया। आकाश मडल गूँजने

लगा। पर्वत फटने लगे, मेघ गर्जने लगे, यक्ष राक्षस तर्जने लगे, माता पिता बालकों को बाहर निकलने से वर्जने लगे। सर्वत्र
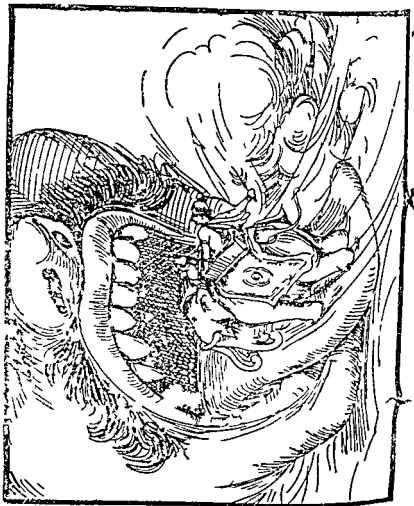
हाहाकार सा मच गया। बिना इन्द्र के त्रिलोकी में अन्धकार सा

छा गया, ऋषि मुनि तथा धर्मात्मा लोग व्याकुल होने लगे। यज्ञ भगवान् घबराने लगे, अग्नि का तेज मद पड गया। सभी ओर से ऋषि मुनि, मनु, प्रजापति दौडे आय और इन्द्र को वृत्रासुर के पेट में पडा देखकर सभी 'बडे दुःख की बात है, ऐसा केसे हो गया, यह तो अत्यन्त ही अद्भुत बात है' इस प्रकार अनेक बाते कहकर आश्चर्य प्रदर्शित करने लगे। कोई शाति पाठ करता, तो कोई मत्रही जपने लगता। कोई दुर्गापाठ करता, तो कोई अपने इष्टदेव को मन ही मन मनाता। इस प्रकार सभी के मन मे ग्लानि हुई, सभी परम विस्मित होकर सोचने लगे, कि अब आगे क्या होगा। देवराज इन्द्र वृत्रासुर के पेट मे पडे पडे अपनी विजय की बातें सोच रहे थे।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! यह तो आप बडी आश्चर्य जनक बातें कह रहे हैं। वृत्रासुर के पेट मे पहुँचने पर भी इन्द्र मरे क्यो नहीं? उनका प्राण घुट क्यो नहीं गया। वे पेट मे जाकर भी जीवित ही क्यो बने रहे।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान शुक कहने लगे—"राजन्! देखिये, जिनकी रक्षा श्री हरि करते हैं, उन्हे कोई मार नहीं सकता। यदि पेट मे जाने से ही जीव मर जाता तो सभी जन्म से पहिले माता के पेट में ही रहते हैं। वालक कितने दिन माता के पेट में रहता है, वहाँ खाता है पीता है, सास लेता है। मर तो नहीं जाता। भगवान् की माया अपार है। जिस महाभारत युद्ध मे करोडों हाथी, घोडा योद्धा मरे, जिसमें बडे बडे वीरों का सहार हुआ रक्त की नदियाँ बहीं। उसमें ४ पक्षी के अडे सुरक्षित बने रहे।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! यह तो आप बड़ी ही विचित्र बात सुना रहे हैं, अजी कोई और जीव होता

तो उसकी बात मानी भी जा सकती थी। रणभूमि में अड़े कैसे बच गये इस विषय में हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। यदि आप उचित समझें तो इस कथा को हमें अवश्य सुना दें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो, आप सब ध्यानपूर्वक श्रवण करें, मैं इस कथा को आप सबको सुनाता हूँ।

ज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् भगवान् की क्रीड़ा है। वे कभी विषाद नहीं करते। जिस घटना को भी देखते हैं उसे ही देखकर हँस जाते हैं। समझते हैं मेरे प्रभु इसी रूप में आनन्दानुभव कर रहे हैं। नारदजी का कुतूहल ऐसा ही है। उन्हें दैत्य दानव, यक्ष राक्षस, देवता, असुर, मनुष्य पशु पक्षी सभी मानते और पूजते हैं। ये भी इधर का उधर लगाकर एक को दूसरे से भिड़ाकर तमाशा देखते रहते हैं। चोर से कह आते हैं, वह बड़ा धनी है उसके घर माल मिलेगा, शाह से जाकर कह देते हैं—"देख, सावधान रहना, तेरे घर अमुक चोरी करने आनेवाला है। यही इनका व्यापार है। खेल की बातों का प्रायः लोग बुरा नहीं मानते दक्ष आदि एक आध इसके अपवाद भी होते हैं, किन्तु प्रायः नारदजी से सभी सन्तुष्ट रहते हैं। हाँ, तो एक दिन घूमते फिरते नारदजी स्वर्ग में पहुँचे नन्दनवन के दिव्य पुष्पों की धीमी धीमी गन्ध आ रही थी। चारों ओर वसंत की छटा छिटक रही थी। शीतल, मन्द सुगन्धित पवन हँसते हुए अठखेलियाँ करते हुये बह रहे थे। देवराज इन्द्र अपनी सुधर्मा सभा में शची देवी के साथ सिंहासन पर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। गन्धर्व गा रहे थे, अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। उसी समय वीणा बजाते हरि गुन गाते नारदजी इन्द्र की सभा में पहुँचे। देवर्षि नारद को आते देख, देवराज

शीघ्रता के साथ अपने सिंहासन से उठ खड़े हो गये। ऋषि का प्रसन्नता प्रकट करते हुए स्वागत किया। पाद्य अर्घ्य आचमनीय आदि देकर उनकी पूजा की और एक अत्यन्त सुन्दर रत्न खचित आसन पर मुनिवर को बिठाया।

नारदजी वैसे हैं तो ब्रह्मचारी ही, किन्तु हैं बड़े रसिक संगीतशास्त्र के तो मानो सर्वश्रेष्ठ आचार्य ही ठहरे। नृत्य विद्या में भी बड़े निपुण हैं। इसीलिये कोई भी इनके सम्मुख संकोच नहीं करते। हँसते हुए नारदजी ने पूछा—"देवेन्द्र, क्या हो रहा था? बड़ी सुन्दर छम्म छम्म की ध्वनि हो रही थी। हमारे आने से तुम्हारे रङ्ग में भंग पड़ गई।"

शिष्टाचार के स्वर में देवेन्द्र ने कहा—"नहीं, भगवन्। रंग में भंग पड़ने की क्या बात है। आपके आने से तो और रंग जम गया। आपका जैसा सरस रसिक हृदय तो किसी भी ऋषि को प्राप्त नहीं हुआ। आप सर्व प्रिय हैं इसीलिये सबके वन्दनीय पूजनीय और आदरणीय हैं। आपकी वीणा सदा अमृत उगलती रहती है। महाराज! इस समय नृत्य हो रहा था। आज्ञा हो तो आपको भी दिखाया जाय।

मुनि को नृत्य क्या देखना था, वे तो कलह प्रिय हैं। जितना आनन्द उन्हें इधर उधर की तिकड़म भिड़ाने में आता है, उतना छम्म छम्म से कहाँ आने लगा। फिर भी बोले—"अच्छी बात है, मैंने भी आपके यहाँ की अप्सराओं के नृत्य की सर्वत्र बड़ी भारी प्रशंसा सुनी है, दिखलाइये किसी का नृत्य।"

अपनी वस्तु की प्रशंसा सुनकर प्राणियों को स्वाभाविक प्रसन्नता होती है अतः प्रसन्न होकर इन्द्र बोले—"महाराज, ये सम्मुख सभी श्रेष्ठ अप्सरायें खड़ी हैं उर्वशी है, रम्भा है, तिलोत्तमा है, घृताची है, मेनका है, मिश्र केशी, सुकेशी, चारु

हासिनी, वपु, पद्मगधा ये सभी तो एक से एक श्रेष्ठ और संगीत विद्या में पारगता हैं। इनमें से आप जिसे आज्ञा दें वही आपको नृत्य दिखावे।"

मुनि को तो कलह में सुख मिलता है, अत कलह का बीज बोते हुए बोले—"देखिये, देवेन्द्र! मैं सब से सुन्दरी का नृत्य देखना चाहता हूँ। अत इसमें जो अपने को सबसे सुन्दरी सम झती हो, वही आकर मुझे नृत्य दिखावे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! स्त्रियों में सौंदर्य चरचा ही एक कलह का बीज है। कैसी भी काली कलूटी असुन्दरी स्त्री होगी। वह भी अपने को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझता है। वह भी कहती है मेरे समान दूसरी कौन है। नारद जी को तो लड़ाना ही था। प्रतीत होता है, वे किसी अप्सरा के गर्व को चूर्ण करने ही आय थे। कहीं पर एक अप्सरा को अपने सौंदर्य का डींग हाकते हुए देखा होगा। वह सम्भवतया कह रही होगी, कि मेरे समान सुन्दरी स्वर्ग मे दूसरी ललना नहीं है। प्रतीत होता है उसे हा शिक्षा देने और अपना विनोद करने मुनि का आगमन स्वर्ग म हुआ था। सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी की बात सुनकर सभी अप्सरायें आपस मे झगड़ने लगीं। रम्भा कहती मैं श्रेष्ठ हूँ, उर्वशी कहती मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, मैंने बड़े बड़े ऋषि मुनियों के मन को विचलित कर दिया है। मेनका कहने लगी—तुम अपनी बहुत डींग मत मारो। विश्वामित्र जैसे ऋषि को मैंने अपने सौंदर्य जाल में फँसा लिया, फिर भी तुम सब को मेरे सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य में सदेह करने के लिए स्थान शेष रह गया। इस प्रकार सभी आपस में अपने को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी बताने लगीं। इन्द्र के सामने ही कलह हो गया। नारदजी मन ही मन प्रसन्न हो रहे

थे, कि इसमे जितना आनन्द आ रहा है, उतना नाच गान और छम्म छम्म मे भला कहाँ ?

देवेन्द्र ने देखा यह तो मुनि ने अच्छी घर मे ही लडाई कराई। मुझे यहाँ सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का निर्णय तो करना नहीं। मुझे तो नारदजी को नृत्य दिखाना है, अत बात को टालने के लिए प्रेमपूर्वक सबको झिड़कते हुए बोले—"अरे, तुम तो परस्पर मे लडाई करने लगीं। अपने को कुरूपा कौन बताता है, अपनी दृष्टि मे सभी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हैं। हमे तो नारदजी को नृत्य दिखाना है। इस समय हम नारदजी को ही सरपच बनाते हैं, नारदजी आज जिसे कह दे वही इस समय सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी।"

नारदजी का सभी को विश्वास था। एक स्वर में सभी ने नारदजी को पच मान लिया। सभी बडी उत्सुकता से नारदजी क मुख को देखने लगीं। वे निर्णय सुनने को अत्यन्त उतावली हो रही थीं, किन्तु नारदजी पूरे गुरु के चेले ठहरे। वे यों फट्ट से उत्तर देने वाले जीव नहीं हैं। जब तक कलह न हो, लडाई न हो, शापाशापी की नौबत न आवे, तब तक नारदजी को चैन कहाँ। अत वे कुछ देर सोचकर बोले—"देखो, भाई, ऐसे तो हम सहसा निर्णय देंगे नहा। अब हम तो नित्य ही स्वर्ग आना है, यो एक का नाम लेदें तो दूसरा सभी बुरा मानेगी। अत हम एक परीक्षा रखते हैं, उसमें जो उत्तीर्ण हो जाय, वही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझी जाय।"

यह सुनकर सभी एक स्वर मे बोल उठीं—"हाँ, हाँ मुनिवर! रखिये, रखिये, हमें परीक्षा स्वीकार है।

इस पर नारदजी बोले—"देखो, इस समय महामुनि दुर्वासा हिमालय पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। जो जाकर अपने सौंदर्य

से उनके मन को विचलित कर दे, वही स्वर्ग की सम्पूर्ण अप्सराओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी।"

इतना सुनते ही सबके मुख फक्क पड गये। सबने समझा ये मुनिवर हमें मरवाना चाहते हैं, सभी ने सिर हिला दिया और कहने लगीं—"महाराज! अग्नि मे कूदने को कहें, तो वह तो हमें स्वीकार है, किन्तु क्रोधी दुर्वासा के समीप हम भूलकर भी न जायेंगी।"

प्रतीत होता है नारदजी इस रूपगर्विता वपु नामक अप्सरा पर ही कुछ चिढे हुए थे। अत उसे लक्ष्य करके बोले—"वपु! सब तो साहस त्या बैठीं? बोलो तुम क्या कहती हो?"

वपु के मन म मुनियों के मन को विचलित कर देने का गर्व था। वह सुन्दरी तो थी ही उसका कंठ इतना मधुर था, कि जब कोई परोक्ष मे उसका गायन सुनता तो यह निर्णय नहीं कर सकता कि यह कोई कोकिल कूज रही है अथवा कोई अप्सरा गायन कर रही है। नारदजी की बात सुनकर उसका गर्व और भी बढ गया। सबका तिरस्कार करती हुई वह बोली—"मुनिवर! मैं डरने वाली अप्सरा नहीं हूँ। मुझे अपने सौंदर्य पर भरोसा है मैं इस बात को दृढता के साथ कह सकती हूँ, कि मेरे सम्मुख कोई भी संत या तपस्वी स्थिर नहीं हो सकता। आज मैं क्रोधी दुर्वासा मुनि के सम्मुख जाऊँगी, उनके समीप ही जाकर वाणा बजाऊँगी, मैं अपने हाव भाव कटाक्षों द्वारा रिझाऊँगी, मुनि का समाधि भङ्ग कराऊँगी, स्वर्ग की सबसे श्रेष्ठ अप्सरा कह लाऊँगी और आप से पारितोषिक पाऊँगी।"

मुनिवर नारद तो यह चाहते ही थे। अत बोले—'अच्छी बात है, तुम जाओ। यदि लौट आओगी तो सबसे श्रेष्ठ तुमही

कहलाओगी। यदि मुनि के कोपानल में पड गईं, तो जो है सो तुम्हारा नाम क्या है वपुदेवीजा गोत्रिन्दायनमोनम होजाओगी। अच्छा तुम जाओ मैं भी तब तक तप लोकमें घूम फिर आऊँ।"

इतना कहकर नारदजी ने अपनी वीणा उठाई और त्रिप का बीज बोकर चलते बने। इधर उन रूप गर्विता वपु विपत्ति का मारी देव की सताई भाग्यवश दुर्वासा मुनि के तप को भंग करने चली। आज उसने बडे मनोयोग से लट झड श्रृङ्गार किया, केशपाश सम्हाले बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को धारण करके मद में मदमाती हुई इठलाती यौवन का छटा दिखाती, बिजली के समान प्रकाश फैलाती हिमालय पर्वत का ओर चली। दूर से ही उसने समाधि में स्थित महामुनि दुर्वासा को देखा। वह उनके समीप नहीं गई। दूर ही एक सघन वृक्षों के झुरमुट में बैठकर अपने वाणी के स्वरों को छोडती हुई पञ्चम स्वर में तान अलापने लगी। उसके स्वर में सौष्ठव था गायन में मनमोहक माधुरी थी। उसका स्वर लहरी से वह वन्य प्रान्त संगीतमय बन गया। पक्षियों ने कलरव करना बंद कर दिया। वायुदेव मंद मंद बहने लगे। असमय में वसन्त ने आकर अपना प्रभाव जमाया।

समाधि में स्थित मुनि के कर्ण कुहरों में उस कलाभिमानिनी कामिनी का कमनीय कोकिल कलरव सुनाई दिया। मुनिका चित्त चंचल हो गया। उस स्वर लहरी ने उनके हृदय प्रवेश में कौतूहल और उत्सुकता की सृष्टि कर दी मुनिका मन स्थिर न रह सका वे उस स्वर लहरी का अनुसरण करते हुए अप्सरा के समीप पहुँचे। वह वराङ्गना अपनी सौंदर्य छटा को बखेरती हुई बडे मनोयोग से गा रही थी। मुनि को देखकर वह लज्जित हुई, क्रीडा का भाव प्रदर्शित करती हुई वह मुनि को लक्ष्य कर के

अपने तीक्ष्ण कटाक्ष रूपी कामबाणों को छोडने लगा। वह मुनि को घायल करना चाहती थी। सर्वज्ञ मुनि उसके अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपने चञ्चल हुए चित्त को हठात् उस अप्सरा की ओर से रोका। काम के प्राबल्य से क्रोध नष्ट हो जाता है। और काम अत्यन्त क्रोध करने से शान्त हो जाता है। दुर्वासा मुनि तो क्रोध के अवतार ही ठहरे। सहसा उन्हे क्रोध आ गया—वे उस अप्सरा को सम्बोधित करते हुए क्रोध मे भर कर बोले—"हे आकाशचारिणी दुष्टे! मदमाती अप्सरे! तू मेरे हृदय को अपने कामबाणों से बेधना चाहती है। पगली तू समझती नहीं, मेरे पास शाप रूपी अमोघ अस्त्र है। उसी अस्त्र का मैं तेरे ऊपर प्रयोग करता हूँ, तुझे शाप देता हूँ, तू आकाश म विचरने वाली पक्षिणी हो जा। हे दुष्ट विचार रखने वाली वराङ्गना! १६ वर्षों तक तुझे पक्षीयोनि मे रहना पडेगा। तैंने अपने कामबाणों के द्वारा मेरे हृदय को विदीर्ण करना चाहा है अत लोहे के बाणों द्वारा तेरा पेट फट जायगा। अब तू अपने किये का फल भोगकर पुन स्वर्ग को चली जायगी।" अपन नूपुरों की मधुर झङ्कार से उस वन्य प्रदेश को झकृत करने वाली और अपने कटाक्ष तथा कङ्कणों की खनखनाहट से व्रीडा का अभिनय करने वाली उस रूप गर्विता वपु नामक अप्सरा को इस प्रकार शाप देकर और क्रोधसे लाल लाल नेत्र किये मुनिवर दुर्वासा बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए वहाँ से चले गये।"

कालान्तर में वही वपु नामक अप्सरा एक सुन्दर चिडिया हुई। मन्दपाल नामक चिरौटा के साथ उसका विवाह हो गया और उसने उससे ऋतुकाल मे गर्भ धारण किया। अभी उस चिडिया का गर्भ ३॥ महीने ही हुआ था तभी

कुरुक्षेत्र मे कौरव और पाडवों का भीषण युद्ध हुआ। वह पक्षिणी प्रारब्ध की मारी मुनि के शाप के कारण उस घन घोर युद्ध क्षेत्र में प्रवेश कर गई। उस समय घनघोर युद्ध हो रहा था। अर्जुन अपने अक्षय तूणीर से निरतर बाणों को निकाल निकाल कर कौरव सेना पर वर्षा कर रहे थे। उनके बाणों से सम्पूर्ण आकाश मडल भर रहा था। उस समय समर विजयी पाडुनन्दन सव्यसाची अर्जुन भगदत्त के साथ भीषण युद्ध कर रहे थे। वह पक्षिणी उसी अवसर पर वहाँ पहुँची। अर्जुन का एक तीखा बाण धनुप से छूटकर उस पक्षिणी का पेट पार करके बडी दूर तक चला गया। बाण के आर पार हो जाने से वह पक्षिणी कलामुण्डी खाकर तडपती हुई चिल्लाती हुई पृथिवी पर गिर पडी। उसके पेट से शुभ्ररङ्ग के चार अडे एक साथ निकल पड़े। वे चारों रक्त से सने हुए ऐसे लगते थे मानो चाँदी की गोलियों पर गेरू पोत दिया हो। वह हतभागिनी पक्षिणी तो गिरकर मर गई। अब उन अडों का क्या हो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिनके रक्षक श्रीहरि हैं, उन्हें मृत्यु भी मारने में समर्थ नहीं। जहाँ वे अडे गिरे थे उन्हीं के ऊपर भगदत्त के हाथी का एक बडा भारी घटा टूटकर गिर पडा। वह घटा ऐसा गिरा कि चारों अडे उसके बीच मे आगय ऊपर से वेग मे गिरने के कारण वह पृथिवी म धुस भी गया इधर उधर हाथी घोडों के पदाघात से उस पर मिट्टी भी जम गई। ऊपर के छेद से वायु भी आती रहती थी। उधर से हजारों लाखों हाथी घोड़े निकले। लाखों रथ पृथिवी को चीरते हुए इधर से उधर दौड़े, किन्तु वह गजघटा वहाँ से टस से मस नहीं हुआ। अड़े उसी में आनन्द से बढ़ते गये।

१८ दिनों के पश्चात् महाभारत समर समाप्त हो गया।

पक जाने से अंडे फूट गये और उसमें के बच्चे भूख के कारण चहचहाने लगे। भाग्यवश उधर से परम धर्मी दयालु शमीक मुनि आ निकले। उनका आश्रम निकट ही था। ये वे ही शमीक मुनि थे जिनके पुत्र शृङ्गी ने महाराज परीक्षित् को शाप दिया था। शमीक मुनि ने अपने शिष्यों से कहा—"बच्चो! देखो यह कैसा बड़ा भारी गजघंट पड़ा है। प्रतीत होता है इसके नीचे कोई जीवित पक्षी है। इस घंटे को उठाओ तो सही।"

गुरु की आज्ञा पा ३—४ शिष्यों ने मिलकर उस घंटे को उठाया। उठाते ही उसमें से ४ बच्चे चिलचिलाते हुए निकले। मुनिको उन असहाय भूखे बच्चों पर बड़ी दया आई और अत्यंत ही आश्चर्य के साथ कहने लगे—"बच्चो! देखो, कैसे आश्चर्य की बात है, इतने भारी युद्ध में भी ये बच्चे जीवित बने रहे। प्रारब्ध का कुछ पता नहीं चलता। अवश्य ही ये कोई विशिष्ट जीव हैं, तभी तो ऐसी अघटित घटना होने पर भी ये जीवित बने हुए हैं। इन्हें अपने आश्रम पर ले चलो।"

इस पर एक शिष्य ने कहा—"गुरुजी! ले तो चलें। अपने आश्रम पर तो सभी प्रकार के पक्षी हैं। इनके न पक्ष हैं न इनकी माता ही है। संभव है कोई बिल्ली ही आकर उठाले जाय। बाज ही पकड़ ले जाय। चूहे न्योला सभी तो ऐसे पक्ष हीन बच्चों को खा सकते हैं।"

इसपर शमीक मुनि ने हँसकर कहा—"अरे भैया! तुम रक्षा करने वाले कौन हो। सबकी रक्षा करने वाले तो श्रीहरि ही हैं। जब इनकी रक्षा इतने भयंकर युद्ध से लाखों करोड़ों हाथी, घोड़ा, रथ आदि के संघर्ष में हो गई है, तो चूहे न्योले इनका क्या बिगाड़ सकेंगे। देखो, परिस्थिति सर्वथा इनके प्रतिकूल थी, किन्तु दैव इनके अनुकूल था अतः ये इतनी कठिन परिस्थिती में

अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को मुझे ठीक ठीक बताओ।

पक्षियों ने कहा—"हे मुनिराज ! आप तो सर्वज्ञ हैं, आपका कथन यथार्थ है। पूर्वकाल मे हम चारों सुकृप नामक मुनि के पुत्र थे। एक दिन मुनि के समीप एक क्षत विक्षत गिद्ध आया। उसने हमारे पिता से कहा—"मुनिवर ! मैं आपकी शरण मे हूँ मेरी रक्षा करो। मुझे मेरे अनुकूल आहार दीजिये।

मुनि ने कहा—"हे दुखित पक्षी ! मैं तेरी मनोभिलाषा को पूर्ण करूँगा, तू जो आहार माँगेगा में दूँगा। तू मेरी शरण म आया है, शरणागत का पालन प्राण देकर भी समर्थ पुरुष को करना चाहिये। बताओ, तुम क्या खाओगे ? तुम्हें कौन सी वस्तु प्रिय है ?"

गिद्ध ने कहा—"मुनिवर ! मुझे तो मनुष्य मास बहुत प्रिय है, आपने मुझसे प्रतिज्ञा की है। आप झूठ तो बोलते ही न होंगे, यदि आप सत्यवादी हैं, तो मुझे मनुष्य मास दें।"

हमारे पिता ने हम चारों को बुलाकर धर्म का मर्म समझाया शरणागत की रक्षा का रहस्य बताया और हमसे अपने शरीर का मास देने को कहा। मुनिवर ! जीवित शरीर से काट कर मास देना सरल काम नहीं है। हम चारों डर गये और पिता से बोले—"पितृदेव ! यद्यपि यह ठीक है, कि हमें आपके सभी आज्ञाओं का पालन बिना विचार के करना चाहिये। किन्तु प्रभो ! हमें अपने अपने शरीरों से अत्यन्त मोह है। हम अपने शरीर का मास न दे सकेंगे। फिर इस घृणित पक्षी के निमित्त हम शरीर कैसे काट सक्ते हैं। पक्षी तो अधमयोनि है।"

हमारी इस अविनय से हमारे पिता को क्रोध आ गया। उन्होंने हमें शाप दिया—"तुम पक्षी योनि से घृणा करते हो,

अतः जाओ तुम चारों पक्षी हो जाओ।" हमें ऐसा शाप देकर उन तपोनिधि ने अपनी औध्वदैहिक समस्त क्रियायें स्वय कीं, और उस पक्षी के लिये अपना शरीर अर्पण कर दिया और बडे उल्लास के सहित बोले—"पक्षिराज ! तुम मेरे इस शरीर को भक्षण करके अपनी बुभुक्षा को शात करो। आज यह मेरा शरीर धन्य है जो परोपकार के काम मे आया। इससे किसी दुःख सतप्त आर्त प्राणी का दुःख नाश होगया, यह नश्वर शरीर किसी काम तो आ गया। अन्त में तो इसे भस्म होना ही था, या कीड़े पड़ते। या विष्ठा हो जाती।"

वे पक्षी कहते हैं—"मुनिवर ! यह गिद्ध और कोई नहीं था स्वर्गपति इन्द्र ही हमारे पिता के सत्य की परीक्षा लेने गिद्ध का रूप रखकर आये थे। उनकी ऐसी धर्मनिष्ठा और सत्यपरायणता को देखकर इन्द्रने पक्षी का रूप छोड़ दिया। और वे अपने यथार्थरूप से हमारे पिता के सम्मुख प्रकट होगये। और बोले—"हे मुनिश्रेष्ठ ! आप धन्य हैं, अब आप सिद्ध हो गये। अब आपकी तपस्या में कभी कोई विघ्न न होगा।" इतना कहकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये।

वे पक्षी कह रहे हैं—"मुनिवर ! इन्द्र के अन्तर्धान होने पर हमने अपने पिता की बहुत विनती की। भाँति २ से अनुनय विनय करके उन्हे प्रसन्न करना चाहा। इसपर वे परम तेजस्वी तपोधन हमारे जनक मुनिवर बोले—"देखो, बच्चो ! जबसे मैंने अपनी स्मृति सम्हाला है, तबसे आज तक कभी हँसी में भी मैंने मिथ्या भाषण नहीं किया। अत मेरा वचन मिथ्या तो होने का नहीं। फिर भी मैं तुमसे कहता हूँ, कि पक्षी हो जाने पर भी तुम्हारा ज्ञान नष्ट न होगा। दैव की गति दुर्निवार है। प्रतीत होता है, तुम्हारे किसी पूर्वजन्म के कर्मों का ऐसा ही फल होना

था, नहीं सगा पिता अपने पुत्र को ऐसा घोर शाप कैसे दे सकता है। इस भाग्य का पता नहीं चलता क्षणभर मे क्या से क्या कर दे। मेरे मन मे ऐसा कर्म करने की पहले कभी कल्पना ही नहीं उठी थी। दैव ने बलपूर्वक मुझसे यह कार्य करा लिया। अच्छी बात है, पक्षियोनि से क्या हुआ, पक्षी होने पर भी तुम्हें परम ज्ञान प्राप्त होगा, तुम्हारे समस्त पाप ताप धुल जायँगे। तुम परम सिद्धि को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।"

पक्षी शमीक मुनि से कह रहे हैं—"हे मुनिवर! यही हमारी पक्षियोनि म जन्म लेने की कथा है। हम वास्तव मे मुनिपुत्र हैं। पक्षियों की ऐसी बातें सुनकर शमीक मुनि का कौतूहल दूर हुआ। वे पक्षी भगवान के परम भक्त महान ज्ञानी और सर्व शास्त्रों के मर्म को भली भाँति जानने वाले थे। उन चारों पक्षियों का पता महामुनि मार्कण्डेयजी ने मुनि श्रेष्ठ जैमिनी को बताया। जिनसे विन्ध्य पर्वत पर जैमिनीने समस्त मार्कंडेय पुराण श्रवण किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे भगवान ने उन चारों पक्षियों के अंडों की रण में रक्षा की थी, उसी प्रकार भगवान् ने इन्द्र की वृत्रासुर के पेट मे रक्षा की। विश्वरूपजी से इन्द्र ने नारायण कवच प्राप्त किया था। उस नारायण के नाम रूप कवच को इन्द्र धारण किये हुए थे और श्रीहरि उनकी रक्षा कर रहे थे। योग और माया के प्रभाव से वे सुरक्षित थे, अत दैत्य के पेट में भी उन्हें कोई पीडा न हुई। कुछ देर सोचकर उन्होंने वृत्र का वज्र से पेट फाड दिया और वे फट्ट से बाहर निकल आये।

छप्पय

ऐरावत के सहित लीलि ली है सुरपति जब।
असुर उदरमहँ गये इन्द्र सुर दुखित भये सब॥
नारायण शुभ कवच अमर पति काया धारन।
बाल न बाँको भयो नाम श्रीहरि के कारन॥
वृत्रासुर के पेट कूँ, फारि इन्द्र बाहर गये।
नारायण महिमा लखी, सुर मुनि विस्मित ह्वै गये॥

॥ श्रीहरि ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँ मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खडोंमें), ६८ खड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मूल्य १।), बारह आना डाकव्यय पृथक्।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ८०० पृष्ठकी, सजिल्द मू० ५।)

३—बदरीनाथ दर्शन—बदरीनाथ यात्रापर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ४)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३५६, मू० २।।।)

५—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप, मू० २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम सकीर्तन के सम्बन्ध में उठने वाली तर्कों का युक्तियुक्तपूर्ण विवेचन। मू० ॥)

७—श्रीशुक—श्रीशुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ॥)

८—भागवती कथा की बानगी—(आरंभ के तथा अन्य खंडोंके कुछ पृष्ठों की बानगी) पृष्ठ सख्या १००, मू० ।)

९—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ।—)

१०—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण पृष्ठ १३० मू० ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु हिन्दु बन सकते हैं? इसका शास्त्रीय विवेचन पृष्ठ सं० ७६ मू० ।—)

१२—प्रयाग माहात्म्य—मू० —)॥

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० —)

१४—राघवेन्दु चरित—भागवतचरितसे ही पृथक् छापागया है मू० ।—)

१५—प्रभुपूजा पद्धति—पूजा करने की सरल शास्त्रीय विधि मू० =)

१६—श्री चैतन्य चरितावली—पाँच खडोंमें प्रथम खड का मू० १)

१७—भागवत चरित की बानगी—भागवत चरित के कुछ अध्यायों की बानगी मू० ।)

१८—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र(छप्पयछदों में) मू० =)॥

१९—गोपीगीत—(मूल तथा हिन्दी पद्य सहित) अमूल्य।

२०—श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरितसे ही पृथक् छापा गया है मू० २)

पता-संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।